Expurgated Edition

ऐतिहासिक

# वीर और वीराङ्गनाएँ

लेखक
परमानन्द शास्त्री,
एम ए एम ओ एल,
डी ए वी कालेज, लाहौर

प्रकाशक
सूरी ब्रदर्स
प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता
गणपत रोड, लाहौर

मूल्य १)

प्रकाशक—
श्री मदनलाल सूरी,
सूरी ब्रदर्स,
गनपत रोड, लाहौर



मुद्रक—
एस० सी० लख
रमेश प्रिंटिंग व
मोहनलाल रोड, ल

# निवेदन

भारतवर्ष के इतिहास में ऐसे ऐसे वीर और वीराङ्गनाएँ उत्पन्न हुई है, जिन्होने अपनी वीरता और समुज्वल सच्चरित्र का उच्च आदर्श हमारे सामने रखा है। उनके वीर रस परिपूर्ण चरित्र के अध्ययन से हमारे निर्जल हृदयों में वीरता का सचार होने लगता है, सूखी नाड़ियों में साहस और उत्साह की रक्त धारा बहने लगती है। उनके सच्चरित्र को पढ कर हमारे चरित्र का सुधार होता है, उच्च जीवन बनता है और आत्मा समुन्नत होती है।

इस छोटी सी पुस्तक में प्राचीन काल से लेकर भारत की वीरता और उसके अतीत गौरव के दर्शन कराने का प्रयास किया गया है जो कि परीक्षार्थी विद्यार्थीयों को अधिक शिक्षाप्रद और लाभदायक सिद्ध हो सकता है। यदि यह पुस्तक विद्यार्थियो के हृदयों मे वीरता की तरङ्ग तथा देश और जाति के प्रति अटूट प्रेम उत्पन्न कर सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषा के प्रेमी जन इस छोटी सी पुस्तक को अपनाने की कृपा करेंगे।

परमानन्द

केवल टाइटल के पृष्ठ जगजीत इलैक्ट्रिक प्रैस मोहनलाल रोड,
लाहौर में छपे ।

# विषय-सूची



# वीर और वीरांगनाएँ



# श्रीकृष्ण

कई विद्वानों का विचार है कि श्रीकृष्ण के जन्म को लगभग ५००० वर्ष हो चुके हैं । उस समय शूरसेन-कुलोत्पन्न राजा उग्रसेन का उत्तर-भारत मे राज्य था । मथुरा उसकी राजधानी थी । उग्रसेन बड़ा प्रतापी, वीर, नीति-परायण और विद्या-व्यसनी राजा था । उसका स्वभाव बहुत ही सरल था । उस समय मथुरा धन-धान्य से परिपूर्ण और वाणिज्य-व्यापार का केन्द्र था। उग्रसेन के पुत्र का नाम कंस था, जो बड़ा ही कुटिल, दुराचारी और अत्याचारी था । वह मगधदेश के राजा जरासन्ध का जामाता था। उस की सहायता से कंस ने अपने पिता को राज्य से च्युत कर दिया और स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया । कंस यों तो बड़ा वीर, पराक्रमी और शक्तिशाली राजा था, पर उसकी वीरता शक्ति-हीन प्रजा पर ही काम आती थी । उसके दुराचरण और अत्याचारों से प्रजा भयभीत रहती थी । उसके राज्य में उसके अपने-पराये सब तंग थे । उसने अपने वंश की मान मर्यादा को मिट्टी में मिलाया ।

द्वार खुले पड़े हैं और पहरे वाले गहरी नींद में खुर्राटे ले रहे हैं। इस अवसर को पाकर वसुदेव बालक को लेकर कारा-वास से बाहर निकल पड़े और कुछ दूरी पर यमुना नदी के तट पर आ गए। यमुना नदी में प्रवेश करते ही आँधी बंद हो गई, आकाश-मण्डल स्वच्छ होने लगा, तारे चमकने लगे और नदी का भीषण प्रवाह कम हो गया। प्रकृति का सारा प्रकोप शिथिल पड़ गया। वसुदेव बिना किसी कष्ट के यमुना के पार पहुँच गए।

वसुदेव उसी क्षण गोकुल में गोपों के सरदार नन्द के घर पहुंचे। अकस्मात् नन्द-रानी यशोदा के गर्भ से भी उसी समय एक कन्या उत्पन्न हुई थी। वसुदेव ने अपने जिगर के टुकड़े उस बालक को नन्द के हाथ में दे दिया और उसकी कन्या को अपनी गोद में लेकर पुनः कंस के कारागृह में लौट आए। रातों-रात यह घटना हुई, किसी ने कुछ न देखा और न सुना। प्रातःकाल होते ही कंस प्रसव-संवाद सुनते ही दौड़ा आया। बहिन देवकी ने बार-बार प्रार्थना की—"यह तो कन्या है, इसे जीने दो, यह तुम्हारा क्या बिगाड़ेगी," पर निष्ठुर कंस ने एक न सुनी। लड़की को उसके हाथों से छीन कर पत्थर पर दे मारा।

इधर कंस उस कन्या के रक्त से अपने हाथ रंजित कर रहा था, उधर गोकुल में यशोदा के पुत्र उत्पन्न होने के उपलक्ष्य में बाजे बज रहे थे। बधाइयाँ देने के लिए नन्द

के घर गोपियों और गोपो का ताँता बँध गया। इस से पूर्व वसुदेव की ज्येष्ठ पत्नी रोहिणी के गर्भ से बलराम का जन्म नन्द के घर हो चुका था। यशोदा के पुत्र की साँवरी-सलोनी सूरत देखकर पुरोहित ने उसका नाम कृष्ण रख दिया।

## बाल्यावस्था

काल क्रम से दोनों भाई कुछ-कुछ बड़े हो गए। पहले घुटनो चलते थे, अब पाओं चलने लगे। दोनों भ्राता एक साथ खेलते। उनकी विचित्र बाल-क्रीडा, मुख की मधुर मुसकराहट और बाल्य-सुलभ चचलता से सपूर्ण परिवार परम आनन्द में मग्न रहता। ये दोनों बालक ज्यों-ज्यों बड़े हुए, उनकी चपलता भी बढती गई। उनमें कृष्ण विशेषत चतुर और माखन-प्रिय थे। अपने घर में ऊखल नीचे रखकर उस पर खड़े हो छींके पर रखे हुए बासन से माखन चुरा कर मुँह में डाल लेते और बेचारी यशोदा छड़ी लेकर पीछे दौडा करती। कृष्ण छोटे-छोटे बछड़ों की पूँछों को पकड कर उनके पीछे दौडा करते, बछड़ों के साथ लुढकते घिसरते बहुत दूर तक चले जाते। धीरे-धीरे कृष्ण की चपलता अधिक बढ गई, यहा तक कि वे गोपियों के दूध-दही के बासन उलट देते। ईंट या पत्थर से माखन की मटकियों को फोड देते। इस तरह नाना प्रकार के उत्पातों से कृष्ण ने गोपो के नाकों दम कर रखा था। यशोदा के घर उलहनों की भरमार आने लगी। वह कृष्ण को दुत्कारती, कृत्रिम

जाते, हिंसक पशुओं का सामना किया करते। और उन्हें मार कर घर लौटा करते। वृन्दावन में 'भाण्डीर' नामक विशाल वट वृक्ष के नीचे कृष्ण अन्य बालकों का दल बना कर मल्ल-युद्ध किया करते थे। उन दिनों मल्ल-विद्या का बड़ा प्रचार और सम्मान था। कृष्ण और बलराम इस कला की पूर्ण-शिक्षा पाकर मल्ल-विद्या-विशारद बन गए। ब्रजवासी श्रीकृष्ण के अद्भुत कार्य-कलापों को और अद्वितीय बल-पौरुष को देखकर कहने लगे कि वे कोई साधारण जीव नहीं हैं। उनके मन में यह दृढ विश्वास हो गया कि विपत्ति में श्रीकृष्ण सदा ब्रजवासियों की रक्षा करेंगे। एक दिन वृन्दावन के निकट भीषण आग लग गई। अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएँ आकाश को छूने लगीं। श्रीकृष्ण ने तब अपना अपूर्व पराक्रम दिखा कर अग्नि को शान्त कर दिया और ग्वाल-बालकों के प्राणों की रक्षा की। तब से समस्त ब्रजवासी उनके भक्त बन गए। श्रीकृष्ण उनके प्राण थे, मान थे और ध्येय थे। अब श्रीकृष्ण का शौर्य-यश सब जगह फैल गया। मथुरा मे भी सब जगह श्रीकृष्ण की चर्चा होने लगी।

कंस के कानों तक भी कृष्ण के अतुल पराक्रम की कथा पहुच चुकी थी। उसे यह भी विदित हो गया था कि उसके प्राणों का वैरी वृन्दावन मे विद्यमान है। उसने कृष्ण की जान लेने के लिए बड़े बड़े बली योद्धा राक्षस वृन्दावन में भेजे, पर कृष्ण के आगे सब को मुँह की खानी पड़ी। जो कोई

कृष्ण के प्राण लेने के लिए उसमे उलभता उसे प्राण गेने पे वाले देने पड़ते। अब कम के भय का ठिकाना न रहा। वह कृष्ण को मार डालने के लिए नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचने लगा।

## कंस का षड्यन्त्र

श्रीकृष्ण और बलराम के असीम बल-पराक्रम की कथा स्थान-स्थान पर फैल चुकी थी। इनका नामधाम कब गुप्त रह सकता था। जन साधारण कहते कि ये साधारण गोप-कुमार नहीं हैं। इनमे कोई दैवी शक्ति विद्यमान है। उनकी लम्बी भुजाएँ, उन्नत ललाट और विशाल नेत्र कह रहे हैं कि ये दोनों बालक जन्म से गोप नहीं हैं।

सब लोग यह अनुमान करते और कहते कि ये बालक नन्द के नहीं, वसुदेव के ही पुत्र हैं। यह जन-प्रवाद फैलते-फैलते कस के कानों तक भी पहुच गया। जिस बात का पहिले उसे सन्देह था, अब उसे उसका निश्चय होने लगा। अपने मस्तक पर हाथ धर कर कस बैठा ही था कि नारद मुनि ने महल में प्रवेश कर कहा—"हे राजन्! सावधान हो जाइए। देवकी का आठवाँ पुत्र तुम्हारा शीघ्र ही अन्त कर देगा। जिस कन्या को तुमने शिला पर दे मारा था, वह देवकी की कन्या न थी, नन्द की कन्या थी।" नारद मुनि यह कहकर चले गए, कस के हृदय पर तो तीर लग गया। उसकी व्याकुलता अधिक बढ़ने लगी। उसे वसुदेव के षड्यन्त्र पर क्रोध आने लगा। अब षड्यन्त्र रचना के अतिरिक्त कस के पास कोई अस्त्र शस्त्र न

हुई। शक्ति-शाली बलराम ने उसे भी भूमि पर पटक कर मार डाला। यह दृश्य देखकर दर्शक चकित हो गए। श्रीकृष्ण-बलराम की जय-जय होने लगी। इस जय-जय के साथ कस के क्रोध का पारा भी चढ़ गया। उसने अपने भृत्यों को आदेश दिया—"देखते क्या हो, इन छोकड़ों को छली वसुदेव और देवकी के साथ पकड़ कर कारागृह में बन्द कर दो"। ये शब्द कस के मुँह से निकले ही थे कि श्रीकृष्ण ने तुरन्त सिंहासन पर कूद कर उस को बालों से खींच अखाड़े में धकेल दिया। भूमि पर बार-बार पटकने से कस अचेत हो गया, और यमलोक में पहुँच गया।

अत्याचारी कस की मृत्यु पर सब जगह हर्ष प्रकाश होने लगा। चारों ओर शान्ति का राज्य स्थापित हुआ। श्रीकृष्ण-बलराम ने अपने माता-पिता देवकी और वसुदेव को प्रणाम किया। यदु-वंशियों को अभिवादन कर श्रीकृष्ण ने कस के पिता उग्रसेन को राज्य-सिंहासन देना चाहा परन्तु उग्रसेन पुत्र-शोक से विह्वल होकर कहने लगा—"यह राज्य मेरे लिए किस काम का, मैं तो ईश्वर-आराधन के लिये वन में जाना चाहता हूँ। इस राज्य की बागडोर आप सँभालिए"।

श्रीकृष्ण ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—"तात! इस राज्य पर मेरा कोई अधिकार नहीं। यह गद्दी आपकी है, जिसे कस ने अन्याय और बल से आप से छीन लिया था। मैंने

कम को राज्य-लोभ से नहीं मारा। उसने तो अपने कर्मों से यह गति प्राप्त की है। उसके भाग्य में यही लिखा था। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। आप अपना राज्य लीजिए, अपनी प्रजा में अपना धर्म-राज्य स्थापित कीजिए"। ये शब्द कह कर श्रीकृष्ण ने उग्रसेन के सिर पर राजमुकुट रख दिया। श्रीकृष्ण के कहने पर अनेक देव तुल्य लोग जो कंस ने बन्दी कर रखे थे, कारागृह से मुक्त कर दिये गए। मथुरा का सौभाग्य पुनः जाग उठा। चारों ओर सुख समृद्धि दीखने लगी। इसके अनन्तर श्रीकृष्ण-बलराम उज्जयिनी में सांदीपनी ऋषि के आश्रम में विद्या पढ़ने के लिये भेज दिये गये, जहाँ उन्होंने सांदीपनी ऋषि से वेद शास्त्र तथा शस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त की।

## युद्ध की घटनाएँ

उज्जयिनी से पूर्ण शिक्षा पाकर श्रीकृष्ण-बलराम मथुरा लौट आए। वसुदेव-देवकी के आनन्द का ठिकाना न रहा। उनका घर एक प्रकार का मन्दिर बन गया। दिन में उनके घर अनेक-नर-नारी श्रीकृष्ण-बलराम के दर्शन करने आते। मथुरा में सब जगह उनका यश बखान किया जाता। मथुरा का राजसूत्र भी उनके हाथ में था। महाराज उग्रसेन राज्य-कार्य में उनकी सम्मति लिया करते थे। उनके बल पर महाराज को बड़ा गर्व था।

कंस की मृत्यु के बाद उसकी दो रानियाँ—अस्ति और

धनुर्विद्या का ऐसा अद्भुत चमत्कार दिखाया कि जरासन्ध की सेना को सिर पर पाँव रख कर भागना पड़ा। अभिमानी जरासन्ध का गर्व टूट गया। वह प्राण बचाकर बची हुई सेना के साथ भाग निकला।

गोमन्त पर्वत को छोड़ श्रीकृष्ण-बलराम आगे बढ़े। उन्होंने दक्षिण समुद्र-तट पर अपनी राजधानी बनाई, जिसका नाम द्वारिकापुरी रखा। यह पुरी पहाड़ों से घिरी हुई थी। वहीं सुदृढ़ प्राचीर और दुर्ग बनवाए गए। राजप्रासाद, देवालय और सुरम्य भवन तैयार कराए गए। जगह-जगह सुन्दर उद्यान और उपवन बनाए गए। असंख्य यादव उस नगरी में रहने लगे।

अब श्रीकृष्ण की आयु पच्चीस वर्ष की हो गई थी। उनके माता-पिता विवाह की चिन्ता करने लगे। जैसे श्रीकृष्ण अद्वितीय रूप-गुण सम्पन्न थे, माता-पिता भी यही चाहते थे कि वधू भी वैसी ही होनी चाहिये। विदर्भ के राजा भीष्म की कन्या रुक्मिणी श्रीकृष्ण के गुणों पर मुग्ध थी। वह श्रीकृष्ण के ही चरणों की सेवा करना चाहती थी। इधर श्रीकृष्ण भी उस गुणवती को ही पत्नी बनाना चाहते थे, पर पिता अपनी कन्या को जरासन्ध के कहने से चेदिदेश के राजा शिशुपाल को देना चाहते थे। स्वयंवर के कुछ काल पहिले रुक्मिणी ने अपने आप को श्रीकृष्ण के अर्पण कर दिया। उसे लेकर श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी में पहुँच गए। शिशुपाल मुँह देखता ही रह गया।

## सुदामा से भेंट

अब श्रीकृष्ण द्वारिका में शक्तिशाली राज्य स्थापित कर आनन्द से रहने लगे। दिन दिन उनका राज्य-वैभव की वृद्धि होने लगी। सारे देश में उन के पुण्य-प्रताप, यश और पराक्रम की चर्चा होती थी। पर उन्हें अपने शौर्य और धन-वैभव का तनिक भी अभिमान न था। वे तो दुखियों और दरिद्रों की सहायता करने में अपना जीवन सार्थक समझते थे।

सुदामा श्रीकृष्ण के परम-मित्र थे। वे अध्ययन-काल में सांदीपनी गुरु के पास श्रीकृष्ण के सहपाठी थे। सुदामा शास्त्रों के बड़े पण्डित थे, परन्तु दुर्दैववश अत्यन्त निर्धन थे। इतना होने पर भी वे जितेन्द्रिय और बड़े सन्तोषी ब्राह्मण थे। वे अपनी दीन अवस्था में भी सन्तुष्ट रहते थे और किसी के आगे हाथ पसारना बुरा समझते थे। एक दिन उनकी स्त्री ने उनसे कहा—"प्राणनाथ! श्रीकृष्ण आपके सहपाठी और पुराने मित्र हैं। उन्होंने कई दीन-दरिद्रों को अपने उदार-दान से मालामाल कर दिया है। एक बार आप भी उनके पास जाइये तो सही। सम्भव है, आपके भी भाग्य खुल जाँय"। उत्तर में सुदामा ने कहा—"तुम्हारा कहना मान कर जाता हूं। मुझे धन की इतनी लालसा नहीं है जितनी कि मित्र के दर्शन की। मैं उनके दर्शन-मात्र से अपने आप को कृतकृत्य समझूँगा"। ऐसा कहकर सुदामा उसी फटी धोती, जीर्ण कुर्ता और जीर्ण पगड़ी में द्वारिका की ओर चल पड़े।

जाते समय ब्राह्मणी ने श्रीकृष्ण की भेंट के लिए भुने हुए कुछ चावल बाँध दिये।

यथासमय सुदामा द्वारिका पहुँच गये। श्रीकृष्ण के दिव्य भवन के भीतर वे धधड़क घुस गये। अन्तःपुर में पहुँच कर उन्होंने श्रीकृष्ण को पर्यङ्क पर लेटे हुए देखा। रुक्मिणी पास खड़ी हुई पखा कर रही थी। सुदामा को देखते ही श्रीकृष्ण पर्यङ्क छोड़कर नीचे खड़े हो गये और स्वागत करने के बाद अपने प्रिय मित्र को छाती से लगा लिया। रुक्मिणी तो इस मेल-मिलाप को देख कर चकित होगई। इसके बाद श्रीकृष्ण ने सुदामा को आदरपूर्वक अपने पर्यङ्क पर बैठा लिया।

श्रीकृष्ण अपने दीन सुहृद् की दारुण दरिद्रता को देख कर दुःखी हुए। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वे अपने मित्र को आश्वासन देते हुए कहने लगे—"मित्रवर! इस अवस्था में इतने वर्ष होगए, आप यहाँ पहले ही क्यों न चले आए। आपने कई वर्ष दुःख और विपत्ति में व्यतीत कर डाले। शोक, मैं आपकी कुछ सेवा न कर सका"। इसके बाद रुक्मिणी पाँव धोने के लिए जल ले आई। श्रीकृष्ण ने प्रेम और श्रद्धा से स्वयं मित्र के चरणों का प्रक्षालन किया, और हँसी मे सुदामा से पूछा—"भाभी जी ने कुछ भेंट तो मेरे लिए अवश्य भेजी होगी"। यह कह कर श्रीकृष्ण ने सुदामा की बगल मे छिपाई

हुई पोटली को उससे छीन लिया और उसमें बँधे हुए चावलों को खोलकर बड़े प्रेम से चबाने लगे। रुक्मिणी ने भी उसमें से आधा भाग ले लिया। श्रीकृष्ण उन चावलों को खाकर कहने लगे—"कैसे स्वादिष्ट हैं! ऐसे चावल आजतक मुझे नसीब न हुए थे"। इस प्रेम-व्यवहार को देख कर सुदामा बड़े प्रसन्न हुए। एक दिन और रात सुदामा उस राजमहल में बड़े सुख से रहे। दूसरे दिन सुदामा जैसे आए थे वैसे ही खाली हाथ चल पड़े। वे आशा लेकर श्रीकृष्ण के पास आए थे, निराश होकर लौट गए। अन्त में मन को धैर्य देकर कहने लगे—"अच्छा हुआ, कुछ न मिला। धन मिल जाता तो उन्मत्त होकर भगवान् को भी भूल जाता"।

सुदामा कुछ समय के अनन्तर अपने ग्राम में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर सुदामा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्हों ने अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी की जगह एक नवीन सुन्दर भवन बना हुआ पाया। वह भवन धन-धान्य से परिपूर्ण था। उनकी स्त्री सुन्दर वस्त्र और भूषणों से सुसज्जित होकर उन की बाट जोह रही थी। सुदामा इस रहस्य को भाँप गए और बार-बार श्रीकृष्ण का धन्यवाद करने लगे।

## शत्रुओं का हनन

यद्यपि जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण करना छोड़ दिया था, तथापि उसने छोटे-छोटे राजाओं को जीत कर उन्हें कारागृह मे डाल रखा था। उसके अत्याचारों से

दुःखी होकर प्रजा भी त्राहि त्राहि कर रही थी । उसके अत्याचार से सब राजा भयभीत रहते थे । राजाओं ने मिलकर श्रीकृष्ण से अपनी प्राण-रक्षा की प्रार्थना की । उसी समय राजसूय-यज्ञ के सम्बन्ध में पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर बुला भेजा ।

श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहिन कुन्ती पाण्डवों की माता थी। इसलिए युधिष्ठिर ने उस महान् यज्ञ के विषय में अपने सम्बन्धी श्रीकृष्ण जैसे महान् पुरुष की सम्मति लेना आवश्यक समझा। युधिष्ठिर के बुलाने पर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आए । राज-सभा में राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से पूछा—"नारद मुनि राजसूय यज्ञ करने के लिए आग्रह कर रहे हैं। आप मेरे भाइयों को जानते हैं । क्या मैं इस यज्ञ को पूर्ण करने की योग्यता रखता हूँ ? क्या मेरे भाई राजसूय यज्ञ के पहले सब जगह विजय प्राप्त कर सकेंगे ? कृपया आप अपनी सम्मति प्रदान कीजिए" ।

उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—"राजन् ! आप इस यज्ञ की अवश्य तैयारी करें । आप गुणी हैं, प्रतापी है, चक्रवर्त्ती सम्राट् बनने के योग्य हैं, परन्तु इस यज्ञ में एक बड़ी भारी अड़चन की सम्भावना है । जब तक मगधदेश का राजा जरासन्ध जीवित है, तब तक वह आपको राजसूय यज्ञ नहीं करने देगा। उस अत्याचारी राजा के पास असंख्य सेना है । कई राजा उससे भयभीत होकर उसके

चरणों की सेवा करते हैं। रणभूमि में उसे मृत्यु के घाट पहुँचाना बहुत कठिन है। वह केवल द्वन्द्व-युद्ध में मारा जा सकता है। मैं ने एक युक्ति सोच ली है। यदि आप अपने भाई भीम और अर्जुन को मेरे साथ भेजें तो मैं अपनी युक्ति में सफल हो सकता हूं''।

युधिष्ठिर ने प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण की बात को स्वीकार कर लिया। अपने भाई भीम और अर्जुन को उनके साथ जाने की आज्ञा दे दी। मगधदेश जाने से पहिले सबने ब्राह्मण का रूप धारण कर लिया। वे बिना किसी बाधा के जरासन्ध के राजमहल में पहुँच गए। जरासन्ध उन तेजस्वी ब्राह्मणों को देख कर उठ खड़ा हुआ। उन का यथोचित सत्कार किया। उन्हें ब्राह्मण समझ कर अर्घ्य देने के लिये आगे बढ़ा, परन्तु श्रीकृष्ण ने अर्घ्य लेना स्वीकार न किया। जरासन्ध सशङ्क होकर पूछने लगा—'क्या आप ब्राह्मण- नहीं हैं? आप मेरा अर्घ्य क्यों अङ्गीकार नहीं करते''। ये शब्द कह कर जरासन्ध उन्हें सन्देह की दृष्टि से ताकने लगा।

तब श्रीकृष्ण ने कहा—"जरासन्ध! हम क्षत्रिय हैं और ब्राह्मण-वेष धारण कर तुम्हारे पास आए हैं। तुम हमारे शत्रु हो। हम जब तक शत्रु से अपना कार्य सिद्ध न करा लें, तब तक उससे किसी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं कर सकते''। जरासन्ध चकित होकर पूछने लगा—'मै तुम्हारा शत्रु कैसा?

मुझे याद नहीं कि मैंने कभी आपका कुछ अनिष्ट-चिन्तन किया हो"।

श्रीकृष्ण ने कहा—"जरासन्ध। तुमने अनेक राजाओं को कारागृह में बन्द कर रखा है, और तुम उन्हें नरमेध यज्ञ की बलि बनाना चाहते हो। हम तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार कर इस महापाप के भागी नहीं बन सकते। हमारा यहां आने का प्रयोजन यही है कि हम तुम्हें यमलोक भेज दें। मेरे साथ ब्राह्मणवेष-धारी ये दो वीर भाई—भीम और अर्जुन हैं। मेरा नाम श्रीकृष्ण है, तुम मुझे तो जानते ही हो। अब तुम उन बन्दी राजाओं को छोड़ दो, या हममें से किसी एक के साथ युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ।" जरासन्ध क्रोध में आकर कहने लगा—"तुम्हारे साथ क्या लड़ना है। तुम तो रण से भाग जाते हो। यह बेचारा अर्जुन भी क्या लड़ेगा। इस लघु शरीर अर्जुन से लड़कर क्या मैं अपना अपमान कराऊँ ? हाँ, इस भीम-काय भीम से लड़ सकता हूँ। इसे कह दो कि इस अखाड़े में आ जाय"।

अखाड़े में भीम और जरासन्ध की कुश्ती होने लगी। अत्यन्त क्रोध में आकर पैंतरे बदल-बदल कर वे द्वन्द्व युद्ध कर रहे थे। जब भीम ने जरासन्ध को थका हुआ पाया तो उसने जरासन्ध के दोनों पाँव पकड़ कर उसे अखाड़े में पटक दिया और उसी तथा उसका एक पाँव अपने पाँव से दबा कर और

दूसरे को ऊँचा करके उसे चीर डाला।

घमण्डी जरासन्ध का घमण्ड टूट गया। इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने कारावास में पड़े हुए राजाओं को मुक्त करा दिया। सब राजाओं न हाथ जोड़ कर श्रीकृष्ण के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। मगध देश से विदा होने से पहिले श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव को उसका राज्य दे दिया। भीम द्वारा अत्याचारी जरासन्ध के वध से श्रीकृष्ण का यश देश-देशान्तरों मे फैल गया।

अब युधिष्ठिर के चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए मैदान साफ हो गया। युधिष्ठिर क भाइयों ने चारों दिशाओं में विजय पाई। सब राजाओं ने युधिष्ठिर को सार्वभौम राजा स्वीकार कर लिया। बड़े समारोह के साथ अब राजसूय-यज्ञ की तैयारी होने लगी। इन्द्रप्रस्थ धन-वैभव से परिपूर्ण हो गया। बड़े बड़े ऋषि मुनि यज्ञ-कार्य सम्पन्न करने के लिए निमन्त्रित किये गये। अनेक राजा भी उस यज्ञ म उपस्थित थे। वयोवृद्ध पूज्य भीष्म ने अपनी सम्मति दी कि सब राजाओं में श्रीकृष्ण ही ज्ञान-वृद्ध, बल वृद्ध और धन-वृद्ध हैं, इसलिए पहले उनकी ही पूजा होनी चाहिय। पहले उनको अर्घ्य दान देना चाहिये, परन्तु चेदिदेश का राजा शिशुपाल क्रोध में आकर कहने लगा—"यह अन्याय है। हम इस अन्धेर तथा पक्षपात को सहन नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण वयोवृद्ध नहीं है। सर्व-प्रथम उसकी पूजा नहीं होनी चाहिये। मैं बल से इस बात का

विरोध करूँगा" । शिशुपाल क्रोध मे पागल होकर अपना बल दिखाने लगा । यज्ञ मे हलचल मच गई । वह श्रीकृष्ण को ललकार कर कहने लगा—"यदि बल-वृद्ध हो, तो मैदान में आ जाओ । मैं अभी तुम्हे मृत्यु के घाट उतारता हूँ" । श्रीकृष्ण पहले से ही उस आततायी और विद्रोही शिशुपाल स तग थे। उन्होन अपने प्रसिद्ध सुदर्शन चक्र स उसी क्षण उसका सिर धड स अलग कर दिया। राजसूय यज्ञ इस घटना के अतिरिक्त निर्विघ्न समाप्त हुआ।

## सन्धि-दूत श्रीकृष्ण

महाभारत के युद्ध के लिए कौरवों और पाण्डवों की तैयारियाँ हो रहीं थीं। अन्य नृपतिगण भी अपने अपने मित्रों को सहायता देने क लिए उद्यत हो रहे थे। युद्ध के परिणाम के रूप में देश की सभ्यता और संस्कृति का सर्वथा नाश दिखाई द रहा था। श्रीकृष्ण ने जान लिया था कि इस युद्ध का परिणाम बहुत ही बुरा होगा । उन्होंने दूत बनकर कौरवो के पास जाने की इच्छा प्रकट की। उस महापुरुष न दोनो दलो को सन्धि कराना अपना कर्त्तव्य समझा । श्रीकृष्ण भारत-देश को इस विध्वंस से बचाना चाहते थे । भारत-देश की डूबती नैया को बचाने क लिए श्रीकृष्ण हस्तिनापुर की ओर रवाना हुए।

हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण का अच्छा स्वागत हुआ । वे एक दिन अपनी फूफी कुन्ती के पास ठहर कर दूसरे दिन कौरवों की सभा मे पधारे । सभा में श्रीकृष्ण ने

कहा—"मेरे यहाँ आने का उद्देश्य यह है कि कौरव और पाण्डव आपस में सन्धि कर लें। इस युद्ध से क्षत्रिय-कुल का संहार होगा, पृथ्वी वीर-रहित हो जायगी, और लाभ कुछ नहीं होगा। पाण्डवों ने तेरह वर्ष तक वनवास तथा अज्ञातवास कर के अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया, अब कौरवों को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिये। पाण्डव केवल पाँच गाँव लेकर सन्तुष्ट रह सकते हैं। अब पाण्डवों के साथ यदि न्यायोचित व्यवहार किया जाय, तो वे कौरवों के पिछले सब अपराध क्षमा करने को तैयार हैं"। सन्धि की न्यायपूर्ण इन शर्तों का सभी लोगों ने अनुमोदन किया। भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्र ने बहुत समझाया, पर दुर्बुद्धि दुर्योधन ने एक न मानी। अन्त में श्रीकृष्ण ने अपने उद्देश्य की सिद्धि में विफल होकर रोष से कहा कि अब युद्ध के सिवा और कोई उपाय नहीं।

## गीता का उपदेश

महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बने। उस प्रवीण सारथि ने अर्जुन के रथ को दोनों ओर की सेनाओं के बीच में जाकर खड़ा कर दिया। चारों ओर दृष्टि डालने से अर्जुन के रोंगटे खड़े हो गए। अपने गुरुजनों, सम्बन्धियों और मित्रों को मारने के विचार ने उसे भयभीत कर दिया। उसके हृदय में मोह ने घर कर लिया। लड़ाई में उसे अपने कुल का संहार और अधर्म ही दीखने लगा। वह क्षत्रिय धर्म से तथा अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ने लगा, और अन्त में गाण्डीव छोड़कर रथ पर निश्चल होकर बैठ गया।

अर्जुन को इस दशा में देखकर श्रीकृष्ण समझाने लगे। उन्होंने उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विश्व और विश्वात्मा, ज्ञान और अज्ञान का भेद बतला कर कर्त्तव्य-पालन करने का उपदेश दिया। यही श्रीकृष्ण का उपदेश 'भगवद्-गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्-गीता का सार सक्षिप्त रूप में नीचे दिया जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहने लगे कि युद्ध से विमुख होना क्षत्रिय का धर्म नहीं। इस शरीर के लिये शोक-मोह करना व्यर्थ है। यह शरीर नश्वर है, केवल आत्मा अमर है। इस आत्मा का न कभी जन्म हुआ है और न ही यह आत्मा शरीर के छूट जाने पर कभी मरती है। इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग भस्म कर सकती है। क्षत्रिय के लिए युद्ध ही स्वर्ग का द्वार है। ऐसे युद्ध से स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं। हार-जीत और सुख-दुःख की चिन्ता न करना ही सच्चा ज्ञान है और यही सांख्य-योग का सार है।

मनुष्य को फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसका कर्त्तव्य कार्य करना है। उसे अपने कार्य में तत्पर रहना चाहिये। युद्ध का परिणाम भला हो या बुरा, युद्ध करने वाले मरेंगे या जीयेंगे—यह चिंता व्यर्थ है। मनुष्य को फलाफल की आशा छोड़कर केवल अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये। उसे निस्पृह, निःस्वार्थ, निरहङ्कार और निर्भय होकर अपने कार्य में संलग्न रहना चाहिये।

इसी का नाम कर्म-योग है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि विषयों की ओर ध्यान मत दो, मन की इच्छाओं पर नियन्त्रण रखो। इंद्रियो को वश में रखो और सुख-दु ख की परवाह न करो—ऐसी स्थिति से ही परम-पदवी मिलती है। इस स्थिति में यदि मनुष्य का शरीर छूट जाय, तो ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

कर्म करना आवश्यक है। कर्म से कोई छूट नहीं सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि मैं कर्म करना छोड दूँ, तो सारा ससार कर्म करना छोड दे। इस ससार का शीघ्र नाश हो जाय। अपने वर्ण, कुल, स्वभाव, सस्कार, आत्मा की प्रेरणा और शास्त्र की आज्ञा से जो निश्चित् होता है, वही कर्म है, वही धर्म है। अपने धर्म का पालन करते हुए शरीर छोड देना परम पुरुषार्थ है। जो सब कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करके अहकार छोड कर करता है, वह पाप में नहीं फँसता, जैसे कि कमल के पत्ते पर पानी का कोई प्रभाव नहीं होता।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा ही बधु है, आत्मा ही शत्रु। आत्मा को ऊपर उठाने से उन्नति होती है, नीचे गिराने से पतन। यह मन बडा चञ्चल है, अभ्यास और वैराग्य से इस मन को स्थिरता होती है। ब्रह्म की प्राप्ति एक ही जन्म में नहीं होती, कई जन्मों तक उसके लिए परिश्रम करता पडता है।

फलेच्छा युक्त कर्म का त्याग करना ही सन्यास है।

मृत्यु पर्यन्त वे परोपकार के कामों में ही लगे रहे। आततायी राजाओं का संहार कर उन्होंने शान्ति की स्थापना की। दीन-दलित और दुःखित जनों का दुःख दूर किया। धर्म-मर्यादा की स्थापना की। राज-धर्म और क्षात्र-धर्म के मर्म को समझाया। गीता के उपदेश से उनका नाम अमर है। समस्त संसार उस उपदेश का सम्मान करता है। योरोप और अमेरिका के विज्ञानवादियों ने उस उपदेश को सर्व-श्रेष्ठ माना है। इस उपदेश को हृदयङ्गम करने से अज्ञानियों के अज्ञान, दुःखियों का दुःख और दुर्बलों की दुर्बलता दूर हो जाती है। यह वह ज्ञान है, जिससे मनुष्य की आत्मा उन्नत और शान्त होती है। मनुष्य इस ज्ञान से दुःखों से व्याप्त जगत् को सुख का धाम बना लेता है।

---

# वीरवर अर्जुन

महाभारत के पात्रों में पाण्डवों की श्रेष्ठता सर्वमान्य है। पाण्डवों में भी महारथी अर्जुन की ख्याति सबसे अधिक है। महाभारत काल को व्यतीत हुए कई सहस्र वर्ष हो गए, पर उस वीर-शिरोमणी की समुज्ज्वल-कीर्ति आज भी संसार में चमक रही है। जब तक श्रीकृष्ण का नाम भारत निवासियों की जिह्वा पर रहेगा, तब तक महायोद्धा अर्जुन की कीर्ति-पताका फहराती रहेगी। अर्जुन के चरित्र से पता लगता है कि प्राचीन समय में भारत शौर्य्य के उच्च-शिखर पर पहुंचा हुआ था और उसकी सभ्यता संसार में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी।

## बाल्यावस्था

प्राचीन काल में भारतवर्ष में विचित्रवीर्य नाम का एक राजा राज्य करता था। उनके धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो पुत्र थे।

युधिष्ठिर के आदेश से सुरङ्ग तैयार हो गई। दिन में तो पाण्डव वारणावत की चहल-पहल देखा करते, पर रात में वे उस सुरङ्ग में अपने अस्त्र-शस्त्र बाँध कर सावधान होकर सोया करते। अन्तम कृष्णपक्ष की वह काल-चतुर्दशी आ पहुँची। उस दिन कुन्ती ने ब्राह्मणों को भोजन कराया। संयोग से एक भीलनी भी अपने पाँच पुत्रों के साथ उस लाक्षागृह में भोजन करने आई। सबने खूब भर-पेट खाया। रात्रि हो गई, झंझावात चलने लगा। आकाश में घने-घने घन घोर गर्जन करने लगे। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। भीलनी और उसके पाँच हृष्टपुष्ट पुत्रों का बाहर निकलना कठिन था। घोर अन्धेरी रात में कुकर्मी पुरोचन ने अवसर पाकर आग लगा दी। लाक्षागृह ऐसे जलने लगा जैसे लंका-दहन हो रहा हो। पाण्डव तो सुरङ्ग के मार्ग से बाहर निकल गए, पर बेचारी भीलनी और उसके पुत्र जलकर भस्म हो गए। प्रातःकाल हड्डियों का ढेर देखकर सबने समझा कि पाण्डव माता-सहित भस्म हो गए।

दुर्योधनादि इस घटना के वृत्तान्त सुन कर आमोद-प्रमोद करने लगे। उनके घर घी के दीपक जलने लगे। अब राज्य का निष्कण्टक सुख-भोग करेंगे—इस विचार से वे फूले न समाते। उधर युधिष्ठिरादि सुरङ्ग के रास्ते बाहर निकल कर, गङ्गा को पार करके वन में मारे-मारे फिरने लगे। वे भूख और प्यास से व्याकुल थे। उनके अंग-अंग ढीले पड़ गए थे। उन्हें निकट ही एक नगरी दिखाई दी। उसका नाम एकचक्रा नगरी था। वहाँ पहुँचने से पहिले उन्होंने

वृक्षों की छाल के कपडे पहनकर और मृगचर्म धारण करके तपस्वी साधुओं का सा रूप बना लिया। वे उस नगर में एक ब्राह्मण के घर अतिथि बन कर रहने लगे। कुछ दिनों के अनन्तर उस ब्राह्मण के घर एक और ब्राह्मण अतिथि आया। वह ब्राह्मण दूरदर्शी था। उसने घाट-घाट का पानी पिया हुआ था। देश-विदेश की नवीन बातों से वह सबको मुग्ध कर दिया करता था। उसने पाण्डवों से कहा—"मैं अभी पाञ्चाल देश से आरहा हूँ। वहा राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर होने वाला है। कन्या बडी रूपवती और गुणवती है। साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वती प्रतीत होती है। तीनों लोकों में ऐसी सुन्दर ललना कदाचित ही हो जो रूप और गुण में उसकी तुलना कर सके"। ऐसी मनमोहनी बातें सुन कर पाण्डव बड़े उत्कण्ठित हो उठे। माता की आज्ञा लेकर उन्होंने पाञ्चाल देश की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में गङ्गा के तट पर चित्ररथ नामक एक गन्धर्व सपरिवार स्नान कर रहा था। पाण्डवों को तट की ओर बढ़ते देख कर उसने उन्हें ऊँची आवाज से कहा—"सावधान, इधर न आना मैं कुबेर का भाई हूँ। यदि मुझे क्रोध आ गया तो पल-भर में तुम लोगों को अचेत कर दूँगा"। अर्जुन इस दर्प-भरी बात को सुन कर लाल अँगारा हो गया। दोनों एक दूसरे पर अपने अपने बल की परीक्षा करने लगे। अर्जुन ने अग्निबाण छोड कर चित्ररथ के दर्प को चकना-चूर कर दिया। अर्जुन की अतुल वीरता देखकर चित्ररथ को मुँह की खानी पड़ी। अन्त में उसने अर्जुन से मित्रता

कर ली और उसे 'चाक्षुष-विद्या' सिखाई। इस घटना के अनन्तर सब भाई आमोद-प्रमोद करते सुख से घूमते हुए पाञ्चाल देश पहुँचे।

## स्वयंवर

द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित होने के लिये आए हुए भिन्न-भिन्न देश के राजाओं और वीर योद्धाओं की खूब चहल-पहल थी। स्वयंवर के अवसर पर नगर की शोभा अपूर्व दिखाई देती थी। बड़े बड़े तोरण बनाये गए थे, उन पर जयमालाएँ बाँधी गई थीं और भिन्न-भिन्न रंग की पताकाएं लगाई गई थीं। सजे-धजे मण्डप में मगध का राजा जरासन्ध, चेदि-पति शिशुपाल और द्वारकाधीश बलराम अपने अनुज कृष्ण के साथ विराजमान थे। अन्य कई राजाओं के बीच दुर्योधन, कर्ण आदि भी विद्यमान थे। जो स्थान ब्राह्मणों के लिए नियत था, वहां भी ब्रह्मचारियों का-सा वेष धारण किए हुए पाण्डव जा विराजमान हुए।

स्वयंवर की शर्तें निराली थीं। महाराजा द्रुपद ने ऊपर एक घूमते हुए चक्र में एक मछली लटका रखी थी। चक्र के साथ वह मछली भी घूम रही थी। चक्र के नीचे तेल से भरा हुआ एक कड़ाह रखा हुआ था जिसमें मछली का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। उस के निकट एक बहुत भारी धनुष और कुछ बाण रखे गये थे। शर्त यह थी कि जो और नीचे तेल में परछाईं देखते हुए मछली को

आँख को पास रखे हुए धनुष बाण से बींध देगा, वही द्रौपदी की वर-माला का अधिकारी होगा।

धनुष का चिल्ला चढ़ाने और लक्ष्य भेद करने में उन दिनों अर्जुन ही विख्यात समझा जाता था। उसकी कीर्त्ति देश-देश में सबके कानों तक पहुँच चुकी थी। द्रुपद भी अपनी पुत्री द्रौपदी के लिए अर्जुन जैसा धनुष-धारी और पुरुषार्थी पति चाहता था। सब वस्तुएँ सुसज्जित होने पर स्वयंवर का कार्य आरम्भ हुआ। धृष्टद्युम्न अपनी भगिनी द्रौपदी को सब राजाओं का परिचय देने लगा। द्रौपदी भी सुनहली वर-माला लिए योग्य पति को पाने की प्रतीक्षा में खड़ी थी।

परिचय के बाद एक-एक करके सब राजा धनुष के निकट आए पर उन में से एक भी लक्ष्य भेद न कर सका। कई तो उस बृहद् धनुष को हिला तक भी न सके। उनके बाद कर्ण उठा, परन्तु द्रौपदी ने कहा—"मैं सूतपुत्र के साथ विवाह न करूँगी"। वह भी लजा कर लौट गया। मण्डप के सब वीर अपनी अपनी हार मान गए। रंगशाला में सन्नाटा छा गया। उसी समय ब्राह्मण-रूपधारी अर्जुन उठा। उसने बिना किसी परिश्रम के धनुष उठा लिया और एक ही तीर से मछली की आँख को बींध दिया। ज्योंही वह नीचे गिरी, त्यों ही सब ओर उस ब्राह्मण का जयजयकार होने लगा। उस रङ्गभूमि में चारों ओर आनन्द के बाजे बजने लगे। जय-जय

शब्द के साथ प्रसन्नवदना द्रौपदी ने कमल के समान कोमल हाथों से अर्जुन के गले में वर-माला पहना दी।

उस ब्राह्मण की विजय को सब राजाओं ने अपना अपमान समझा। जब उनसे और कुछ न बन सका, तो बेचारे द्रुपद पर ही धावा बोल दिया। ब्राह्मण को कन्या देकर उसने इनका अपमान किया है—इसलिए वे उसी पर टूट पड़े। यह देख अर्जुन ने वही धनुष उठा लिया और लगा सब के छक्के छुड़ाने। जब झगड़ा बढ़ने लगा, तब कृष्ण ने दोनों ओर के वीरों को युक्ति से समझा-बुझा कर शांत कर दिया।

अर्जुन अपनी नव वधू को ले कर अपने भाइयों के साथ माता के पास आ गए। इधर माता कुन्ती घर में आई हुई लक्ष्मी को देख कर बड़ी आनन्दित हुई, परन्तु द्रुपद महाराज इस कारण व्याकुल थे कि द्रौपदी एक दरिद्र ब्राह्मण के पल्ले पड़ी है। जब द्रुपद को पता लगा कि द्रौपदी का पति पाण्डवों का बिचला भाई स्वयं अर्जुन है, तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। उसने दहेज में अर्जुन को बहुत सम्पत्ति और अनेक रत्न दिये।

## राज्य-प्राप्ति

धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि को जब यह सूचना मिली कि द्रौपदी ने स्वयंवर में अर्जुन को ही वरा है और अब पाण्डव रत्न धन आदि से सम्पन्न हो गए हैं, तब उनकी प्रचुर-शक्ति को समझ कर धृतराष्ट्र ने उन्हें विदुर द्वारा

हस्तिनापुर में बुलवा लिया और विदुर की अनुमति से उन्हें खाण्डवप्रस्थ का राज्य दे दिया। पाण्डव अपनी माता कुन्ती और द्रौपदी को साथ लेकर खाण्डवप्रस्थ में राज्य करने लगे। उन्होंने अपने देश को विस्तृत किया। काशी द्रविड, कलिङ्ग, प्रभृति देशों को जीत लिया। उनका कोष अब धन-धान्य से भरपूर था। नारद मुनि की सम्मति से उन्होंने बड़े समारोह से राजसूय यज्ञ किया। राजसूय यज्ञ में उनका अपूर्व ऐश्वर्य देख कर दुर्योधन आदि फिर दुःखी होने लगे। उनका बना-बनाया खेल बिगड़ गया। उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। विष की गाँठ दुर्योधन फिर छल कपट की सोचने लगा। राजसूय यज्ञ में सब राजाओं ने युधिष्ठिर को सम्राट् स्वीकार किया है—इस बात से दुर्योधन को अधिक सन्ताप होता था। कूट बुद्धि शकुनि के परामर्श से दुर्योधन पाण्डवों को राज्य-च्युत करने का षड्यन्त्र रचने लगा।

## द्यूत-क्रीडा

शकुनि का प्रस्ताव सफल हो गया। दुर्योधन सहमत हो गया कि पाण्डवों को हस्तिनापुर में बुलवाया जाय और अक्ष-क्रीडा मे उनका सारा राज-पाट छीन लिया जाय। शकुनि चौपड पासे के खेलने में पृथ्वी-भर में बड़ा पारङ्गत समझा जाता था। इसलिए यह निश्चय हुआ कि शकुनि दुर्योधन का प्रतिनिधि बनकर खेलेगा।

पाण्डवों को पासा खेलने का निमन्त्रण भेजा गया। सरल-स्वभाव क्षत्रिय युधिष्ठिर, जो अपने आपको इस खेल में निपुण समझता था, कब इन्कार कर सकता था। पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आ पहुँचे। यथा समय खेल आरम्भ हुआ। इस भाग्य की बाज़ी को देखने के लिए धृतराष्ट्र, भीम, द्रोण और अन्य कई राजा भी सभा में उपस्थित थे। पासे चलने लगे और युधिष्ठिर की हार पर हार होने लगी। युधिष्ठिर ने मुक्ता, मणि, सोना, चाँदी ही नहीं, किन्तु अपने राज्य को भी दाँव में लगा दिया और सब कुछ हार गया। अन्त में अपने आप और अपने भाइयो को भी एक-एक करके दाँव में लगाया, पर पासा फिर भी उलटा ही पडा, परिणाम यह हुआ कि युधिष्ठिर ने अपने आपको और भाइयों को भी दासता की साँकल में बाँध दिया। शैतान के कान कतरने वाले शकुनि की बातों से उत्तेजित होकर हतबुद्धि युधिष्ठिर घर की लक्ष्मी द्रौपदी को भी उन लम्पटों के हाथ दे बैठा। अर्जुन लहू के घूँट पीकर रह गया, पर बडे भाई को क्या कुछ कह सकता था। उस अवसर पर भीम और अर्जुन का धैर्य सराहनीय था।

अब दुर्योधन की पौ-बारह हो गई, वह आनन्द से नाचने लगा। दुष्ट दुःशासन दुर्योधन के संकेत से द्रौपदी का अपमान करने लगा। द्रौपदी हाहाकार करने लगी। हाथ जोडकर, अपने मान की रक्षा के लिए सभा के लोगों से प्रार्थना करने लगी, पर किसी को हस्तक्षेप करने का

साहस न हुआ। अन्त में दयामय श्री भगवान् के स्मरण के अतिरिक्त उसे कोई आश्रय न रहा। भयङ्कर भीम भी अपने दाँत पीस कर रह गया। उसने भी भरी सभा में ललकार कर कहा—"मैं इस अपमान का बदला अवश्य लूँगा। रणभूमि में दुःशासन की छाती चीरकर उसका रक्त-पान करूँगा और मैंने इस गदा से दुर्योधन की जाँघ न तोड़ गा तो मुझे भीम न कहना।"

द्रौपदी के इस अपमान को देखकर सब राजा दुर्योधन और दुःशासन की निन्दा करने लगे। इस निन्दा से धृतराष्ट्र कुछ विचलित हुए। पाण्डवों को उनका राज्य, और धनादि वापस देने को उद्यत हो गए, पर दुर्योधन घर में आई लक्ष्मी को कब छोड़ सकता था। अन्त में यह निश्चय हुआ कि द्यूत-क्रीड़ा फिर आरम्भ की जाय। शर्त यह हुई कि जिस पक्ष की हार हो। वह बारह वर्ष तक वनों में रहे और एक वर्ष अज्ञातवास करे। यदि अज्ञातवास विदित हो जाय तो बारह वर्ष तक फिर वन में रहे।

युधिष्ठिर ने यह बात स्वीकार करली, पर उसके भाग्य खोटे थे। उसके भाग्य में वन में मारा मारा फिरना लिखा था। वह फिर हार गया और उस हार के बाद पाण्डव द्रौपदी समेत वन की ओर चल पड़े। धन्य हैं युधिष्ठिर के वे भाई, जिन्होंने बड़े भाई के कार्य में चूँ तक नहीं की। वे धर्म के बन्धन में जकड़े हुए थे। नहीं तो अकेला अर्जुन ही कौरवों का समूल-उच्छेद कर सकता था।

## वनवास

मार्ग में नाना प्रकार के कष्ट उठाते हुए पाण्डव 'काम्यक वन' में पहुँचे। कुछ मास वहाँ रह कर पाण्डवों को विदित हुआ कि वहा से कुछ दूर 'द्वैतवन' बडा सुन्दर स्थान है। पास ही निर्मल जल का सरोवर है। चारों ओर फल-फूल पर्याप्त हैं। सुन्दर पक्षियों क सुहावने गीत से वह स्थान बहुत ही रमणीय है। निदान, पाण्डवो ने वहाँ जाकर अपना निवास-स्थान बना लिया। उनको देखकर बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, योगीजन भी वहाँ आने लगे। प्रभु-भजन और कीर्त्तन होने लगा। सबके चित्त शान्त हो गए। ऐसे शान्त वायु-मण्डल के होते हुए भी द्रौपदी के हृदय में दिन-रात अपमान का शूल चुभा करता। वह इस अपमान को कब भूल सकती थी। वह बार-बार अर्जुन और उसके भाइयों को भीरु और निर्लज्ज कहकर फटकारा करती। पाण्डव 'किं कर्त्तव्य विमूढ़' की भाँति चिन्ता में मस्त बैठे ही थे कि व्यास जी वहाँ आ निकले। उन्होंने उन्हें दिलासा दिया। एकान्त में जाकर युधिष्ठिर को 'प्रतिस्मृति' नाम की विद्या सिखाई। यह वह विद्या है जिसके प्रभाव से दृष्ट और अदृष्ट जगत प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता था। व्यास जी ने युधिष्ठिर से कहा कि तुम इस विद्या को अर्जुन को सिखा कर उसे शङ्कर, इन्द्र, वरुण और कुबेर के पास दिव्यास्त्रों को ग्रहण करने के लिए भेजो। उन्हें प्राप्त करके ही अर्जुन बड़े से बड़े शत्रुओं को जीत लेने में समर्थ होगा।

अग्रज युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन गाण्डीव कन्धे पर रखकर उत्तर की ओर चल पड़े। हिमालय और गन्ध-मादन के शिखरों को पार किया। इन्द्रकील पर्वत पर पहुँच कर मन-मोहक वन की शोभा को देखकर मुग्ध हो गए। वहीं मृगछाला बिछायी, दृढ़मनस्क होकर कठोर तपस्या करने लगे। वृक्षों से जो पत्ते और फल गिरा करते, उन्हीं से वे अपनी उदर-पूर्ति किया करते। अन्त में इन पदार्थों को भी त्याग दिया। केवल हवा खाकर, ऊपर को बाँहें उठा, पाँव के अँगूठे क सहारे खड़े रह कर तपस्या करने लगे। इस भयकर तप को देखकर भगवान् शकर आकर्षित हुए। गुप्त-रूप में अर्जुन की बार-बार परीक्षा ली और अर्जुन परीक्षा में पूरा उतरा। प्रसन्न होकर त्रिनेत्रधारी शकर ने अपना 'पाशुपत' नामक अमोघ अस्त्र अर्जुन को दिया। इस घटना क अनन्तर अलौकिक प्रकाश हुआ। कुबेर, वरुण और इन्द्र देवता अर्जुन के समीप उपस्थित हुए। उन्हों ने उसे दिव्यास्त्र दिये। इन्द्र अर्जुन को स्वर्गलोक म ले गया। वहाँ समुचित सत्कार क बाद उसे वज्र नामक अस्त्र क चलाने का अभ्यास कराया। स्वर्ग में रहकर अर्जुन ने चित्रसेन नामक गन्धर्व स गाना, बजाना और नाचना भी सीख लिया था। कई वर्षों के बाद अर्जुन इन्द्र से बिदा लेकर अपने भाइयों के पास लौट आया। सब भाई अर्जुन क दैवी अस्त्रों क पाने की कथा सुनकर बड़े प्रसन्न

हुए, परन्तु जब दुर्योधन आदि कौरवों को पता लगा कि अर्जुन ने दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिए हैं, तो उनके कलेजों पर साँप लोटने लगे।

## अज्ञातवास

किसी प्रकार बारह वर्ष बीत गए। अब पाण्डवों ने अज्ञात-वास की तैयारी की। मत्स्य देश जाने का विचार किया। उस देश में पहुँचने से पहिले उन्हों ने अपने अस्त्र-शस्त्र शमी वृक्ष पर छिपा दिये थे। वे मत्स्य देश ( वर्तमान धौलपुर के पश्चिम की ओर ) के राजा विराट के पास जाकर वेश बदल कर रहने लगे। सब ने अपना दूसरा नाम रख लिया। युधिष्ठिर राजा के दरबारी बने, भीम रसोई बनाने वाले, अर्जुन विराट राजा की पुत्री उत्तरा को नृत्यगीत सिखाने वाले, नकुल अश्व-रक्षक, पशुपाल सहदेव गोरक्षक, और द्रौपदी रानी की दासी बनी।

इधर पाण्डव गुप्तरूप से अपने अज्ञातसवास के दिन पूरे कर रहे थे, उधर दुर्योधन के दूत पाण्डवों की खोज में आकाश-पाताल एक कर रहे थे। अन्त में सब दूत हार मान कर बैठ गए। त्रिगर्त देश का राजा सुशर्मा विराट को अपना शत्रु समझता था। उसने दुर्योधन और उसकी सेना की सहायता से मत्स्य देश पर आक्रमण कर दिया। सुशर्मा ने विराट की सेना को भगा दिया और प्रभूत धन और असंख्य गाएँ छीन ले गया। विराट को भी उसने बन्दी बना लिया।

इस समय पाण्डवों के अज्ञातवास का एक वर्ष समाप्त हो चुका था। द्रौपदी ने अपनी स्वामिनी विराट की रानी से कहा कि इस अवसर पर यदि उत्तर ( विराट का पुत्र) बृहन्नला (अर्जुन) की सहायता से शत्रु का सामना करे तो विपत्ति टल सकती है। उत्तर-कुमार बृहन्नला को अपना सारथी बनाकर रणभूमि में उतर पड़ा, पर भीष्म, द्रोण आदि वीरों को देखकर रथ से भाग गया। अर्जुन दौड़ कर उसे वापस लाया। शमी के वृक्ष से अपने अस्त्र शस्त्र उतरवा कर अर्जुन ने उत्तर से कहा कि ये सब अस्त्र-शस्त्र पाण्डवों के हैं। जब उत्तर ने बृहन्नला को अर्जुन जाना तब उसकी जान में जान आई। अर्जुन ने गाण्डीव पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओं को कँपा देने वाला देवदत्त नामक शङ्ख बजाया। दुर्योधन की सेना पर तीर बरसाने शुरू किये। कौरव उस बाणवर्षा के सामने ठहर न सके। अर्जुन गाए छीनकर और विराट को छुडाकर मत्स्य देश वापस आ गया। राजा विराट पाण्डवों के परिचय से बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उनका उचित सम्मान किया और अनुचित काम कराने के कारण उन से क्षमा याचना की।

## कुरुक्षेत्र

वनवास और अज्ञातवास दोनों समाप्त हो गये। अब पाण्डव आधा राज्य प्राप्त करने के लिए यत्न करने लगे। उन्होंने हस्तिनापुर में अपना दूत भेजा पर दुर्योधन दूत की क्या परवाह करता था। दुर्योधन वार-बार यह कहता—

"अज्ञातवासपूर्ण होने से पहिले ही मैंने अर्जुन को देख लिया है। मैं आधा राज्य कभी भी नहीं दे सकता। युद्ध के बिना जौ-भर भी भूमि मैं पाण्डवों को नहीं दूँगा। दूत से ऐसा सन्देश सुनकर पाण्डवों ने युद्ध के लिए अपनी कमर कस ली। दुर्योधन तो पहिले ही युद्ध का इच्छुक था। दोनों ओर से तैयारियाँ होने लगीं। दोनों ही दलों में बड़े-बड़े योद्धा एकत्र होने लगे।

श्रीकृष्ण यादवों में सर्वमान्य थे। दुर्योधन और अर्जुन श्रीकृष्ण जी को अपने-अपने पक्ष में लाने के लिए एक ही समय द्वारिका पहुँचे। उस समय श्रीकृष्ण सोए हुए थे। दुर्योधन ने शयनगृह में पहिले प्रवेश किया और कृष्ण के सिरहाने बैठ गया। फिर अर्जुन गया और श्रीकृष्ण के पैताने बैठकर उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगा।

जब श्रीकृष्ण जी जगे तब उन्होंने पहिले अर्जुन को और फिर दुर्योधन को देखा। यथोचित आदर-भाव के साथ आने का कारण पूछा। जब युद्ध के लिए उन्हें तुला हुआ देखा, तब श्रीकृष्ण ने बड़ी प्रेरणा की कि भारत को इस विनाश से बचाना चाहिए, पर दुर्मति दुर्योधन कब मानता था। वह अपने दुराग्रह से न टला। अन्त में श्रीकृष्ण ने अपनी सम्मति देना व्यर्थ समझ कर दुर्योधन को उसकी इच्छा के अनुसार अपनी नारायणी सेना उसकी सहायता के लिए दे दी और स्वयं अर्जुन की इच्छा से रण में उसका सारथी बनना स्वीकार किया।

श्रीकृष्ण इस नर-संहार को रोकने के लिए युधिष्ठिर की ओर से हस्तिनापुर गए और फिर सन्धि का यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि पाण्डव केवल पाँच गाँव लेकर ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। पर दुष्ट दुर्योधन सुई की नोक के बराबर भी भूमि देने के लिए तैयार न था। इसी को कहते हैं—विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।

कुरुक्षेत्र में दोनों ओर की सेनाएं पहिले से ही सन्नद्ध थीं। दुर्योधन की सेना ग्यारह अक्षौहिणी* और पाण्डवों की सेना सात अक्षौहिणी बतलाई जाती है। दोनों ओर से भयंकर शंख बजने लगे। हाथियों की चिंघाड़ और घोड़ों की हिनहिनाहट से आकाश गूँज उठा। अर्जुन के कहने पर श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया। अर्जुन को यह देख कर बड़ा दुःख और शोक हुआ कि अपने सगे-सम्बंधी—आचार्य, मामा, ससुर भाई, भतीजे और मित्र आदि रणाङ्गण में कट जाने के लिये तैयार खड़े हैं। अर्जुन अपना गाण्डीव और बाण छोड़ कर श्रीकृष्ण की ओर मुड़कर कहने लगा—"मैं इस आधे राज्य के लिये अपने सम्बन्धियों का संहार नहीं कर सकता। इस भयानक नर-हत्या करने की मुझ में शक्ति नहीं। मेरे अंग कम्पित हो रहे हैं, होंठ सूख रहे हैं, मेरा सिर घूम रहा है, अपना वश-क्षय करके मैं इस

* एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल होते हैं।

तक भारत का नाम और उसका इतिहास रहेगा, अर्जुन का नाम इतिहास के पृष्ठों से कभी नहीं मिट सकता। यह वह वीर था, जिसने महाभारतकाल में अपने असाधारण कार्यों से, अपनी अद्वितीय वीरता से, पिता, गुरु, भाइयों और मित्रों के प्रति सत्कार और प्रेम-प्रदर्शन से अपना नाम उज्ज्वल किया। बाल्यावस्था से ही प्रतिपक्षियों के आघात पर आघात सहे। अर्जुन की जीवन-यात्रा कण्टकाकीर्ण दुर्गम पथ पर रही, पर वह कभी भी विचलित न हुआ। अपने कर्त्तव्य-पालन का उसने एक असाधारण आदर्श हमारे सामने रखा। दिग्विजय में जो कुछ उसने हस्तगत किया, अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को अर्पण कर दिया। युधिष्ठिर की शक्ति और प्रभुता बढाने में ही वह अपनी महत्ता समझता था। कर्मवीर अर्जुन के द्वारा ही अत्याचारी दुर्योधनादि के आतङ्क से निपीड़ित जनता का उद्धार हुआ। उसके बल पर धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर ने धर्म-राज्य स्थापित किया और भारत को एक सूत्र में पिरोकर एक महान् राष्ट्र का निर्माण किया।

---

# शिवाजी

शिवाजी मातृवश और पितृवश दोनों ओर से राजपूत थे। मातृवश में शिवाजी के नाना यादवराव दक्षिण में यादववश के प्रसिद्ध राजपूत थे। पितृपक्ष से वह उदयपुर* के प्रसिद्ध राणा के वश में उत्पन्न हुए थे जिसमें बडे-बडे शूर-वीर योद्धा पैदा हुए और जो वश बहुत काल तक स्वतन्त्र रहा। शिवाजी के पिता का नाम शाहजी और माता का नाम जीजीबाई था। इनका जन्म 'शिवनेर' दुर्ग में हुआ था। शाहजी अहमदनगर के बादशाह की ओर से दिल्ली के सम्राट् के विरुद्ध लगातार युद्ध में लडते रहते थे। जीजीबाई स्वतन्त्रता-प्रिय और धर्म भीरु नारी थी। वह अपने पति पर इसलिए क्रुद्ध

---

*मिस्टर जस्टिस रानाडे ने अपने मरहठा इतिहास में लिखा है कि पितृपक्ष से शिवाजी उदयपुर के राणा-वंश में से थे।

आस-पास के क़िलों को हस्तगत करने के लिए उनका मन छटपटाता रहता। वे अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए चारों ओर से प्रयत्न रकने लगे।

पूना के पश्चिमी भाग में करीब २० मील दूर 'तोरण' नामक एक पहाड़ी क़िला था। शिवाजी ने अपने मावली साथियों की सहायता से उस दुर्ग को अपने अधीन कर लिया। सौभाग्य से क़िले का खण्डहर खोदते हुए एक ख़ज़ाना भी मिल गया, जिससे शिवाजी ने शस्त्र ख़रीद कर एक दूसरे क़िले की नींव रखी। तोरण के दुर्ग से तीन मील दूर दूसरा क़िला तैयार हो गया, जिसका नाम राजगढ़ रखा गया। यह क़िला सदैव शिवाजी के अधीन रहा।

इन क़िलों को लेकर शिवाजी ने कल्याण पर आक्रमण कर दिया। उन दिनों कल्याण एक बड़ा भारी बन्दरगाह था। शिवाजी ने उसे लूटा और उसके साथ और नगरों को भी अपने अधीन कर लिया। यहाँ लूट में एक परम सुन्दरी युवती पकड़ कर शिवाजी के पास लाई गई। शिवाजी ने उस को सम्मान पूर्वक उसके सम्बन्धियों के पास भिजवा दिया। इस विजय से उत्साहित होकर मराठे बड़ी संख्या में शिवाजी के झण्डे के नीचे आने लगे। शिवाजी ने अन्य कई क़िले अपने राज्य में मिला लिये। इसी तरह शिवाजी की शक्ति प्रतिदिन बढ़ने लगी। उनके पास अब ७ हज़ार अश्वारोही और १० हज़ार पैदल सिपाही हो गए

## कारागार

शिवाजी की कल्याण की लूट और किलों को अपने राज्य में मिलाने की सूचना बीजापुर के सुलतान आदिलशाह के पास पहुँच गई। वह क्रोध से अधीर हो गया। उसके मन में यह सन्देह होने लगा कि ये आक्रमण शिवाजी के पिता शाहजी की प्रेरणा से ही हो रहे हैं। सुलतान ने शाहजी को डाँट डपट कर कहा कि तुम अपने पुत्र को पत्र द्वारा ऐसे उत्पात मचाने से रोको, परन्तु शिवाजी ने पिता के पत्र का कोई भी उत्तर न दिया। तब शाहजी सुलतान से कहने लगे कि शिवाजी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वह मेरी आज्ञा का पालन नहीं करता। सुलतान ऐसी बातों पर कैसे विश्वास कर सकता था। उसने उसी समय आज्ञा दे दी कि शीघ्र ही शाहजी को अँधेरी कोठरी में कैद कर दिया जाय। एक छेद के बिना उस कोठरी के सब द्वार बन्द करा दिये जाएँ। यदि शिवाजी उपद्रव मचाना बन्द न करें, तो वह छेद भी बन्द कर दिया जाय।

जब शिवाजी को अपने पिता के क़ैद होने का समाचार मिला तो वे बड़े भारी असमंजस में पड़ गए कि अब क्या होगा। एक ओर तो पिता का जीवन सकट में था और दूसरी ओर स्वतन्त्रता की आशा-लता के सूखने का भय था। उस समय तक शिवाजी ने मुगलों के राज्य पर हाथ नहीं डाला था, इसलिए दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ शिवाजी से प्रसन्न थे।

पालकी में बैठकर नियत स्थान पर पहुँच गया। शिवाजी भी समय पर वहाँ पहुँच गए। दोनों ने मलमल के सादे कपड़े पहने हुए थे। वे दोनों परस्पर मिलने के लिए आगे बढ़े। शिवाजी कद में जरा छोटे थे। और अफ़जलखाँ लम्बा था। उसने शिवाजी को बगल में दबा कर ज्यों ही कटार से उन्हें कत्ल करना चाहा त्यों ही शिवाजी ने उस की दाहिनी पसलियों में अपना 'बघ नख' घुसेड़ दिया, जिससे तुरन्त उसके प्राण पखेरु उड़ गए। और वह उसी क्षण धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा। क्या कुछ करने आया था, क्या कुछ हो गया। अफ़जलखाँ शिवाजी के कान कतरना चाहता था, पर शिवाजी ने उसी के कान कतर लिए। अफ़जलखाँ के गिरने पर अकस्मात् मरहठे शत्रुओं पर टूट पड़े। तब अनेकों ने आत्म-समर्पण किया और कई प्राण बचाकर भाग गए। जिन सैनिकों ने प्राणों की रक्षा की प्रार्थना की, उनके साथ शिवाजी ने दयाभाव से व्यवहार किया और वे प्रसन्नता-पूर्वक उसकी सेना के अंग बन गए।

## शाइस्ताखाँ का आक्रमण

इसके पश्चात् शिवाजी का वध मुग़ल-स

। शिवाजी ने कई मुगल नगरों को लूट लिया । इस अपमान को देख औरंगज़ेब का कोपानल प्रचण्ड रूप से धधक उठा। उसने कहा, "अब निश्चय ही इस पहाड़ी चूहे को पैरों तले कुचल दूंगा" । सम्राट् का मामा, शाइस्ताखाँ औरंगाबाद से एक महती सेना लेकर दक्षिण की ओर बढ़ा। उसकी सेना एक लाख से कम न थी। ऐसा विदित होता था कि एक सम्पूर्ण नगर धावा बोलने के लिये आगे बढ़ रहा हो। जिन मुगल किलों पर शिवाजी ने अधिकार कर लिया था, वे मन शाइस्ताखाँ के हाथ आ गए। बिना किसी विघ्न-बाधा के पूने पर भी अधिकार हो गया। शाइस्ताखाँ पूने के लाल-महल में रहने लगे। उसकी सेना पूने के चारों ओर छावनी डाल कर रहने लगी। शिवाजी से सावधान रहने के लिए पूने के फाटक पर पहरेदार खड़े कर दिये गए। शिवाजी ने दो सौ मनुष्यों की एक बारात तैयार की। सब बारातियों को बादशाही सिपाहियों की वरदी पहनाई गई। एक युवक को दूल्हा के वस्त्र पहना दिये गये। नगाड़ों के साथ दूल्हा पूने की ओर बढ़ने लगा। आधी रात थी। शिवाजी ने पाँच सौ मनुष्यों को विभिन्न स्थानों पर नियुक्त कर दिया। वे स्वयं बीस बारातियों को साथ लेकर लाल-महल में घुस गए। राज-प्रासाद में मदिरा के दौर चल रहे थे। खाँ और उसके मित्र बे-सुध पड़े थे। बारातियों के पहुंचते ही राजप्रासाद के अन्तःपुर में तुमुल चीत्कार होने लगा। भयकर मार-काट आरम्भ हो गई। भारी हलचल मच गई।

शाइस्ताखाँ अपनी उङ्गली कटा कर भाग निकला। तब मुग़लों की छावनी बिखर गई। सब पीठ दिखाकर प्राण बचाने लगे।

## बन्दी

जब औरंगजेब के पास शाइस्ताखाँ की हार का समाचार पहुँचा तो उसकी नींद हराम हो गई। क्रोधज्वाला से वह सतत जलने लगा। तत्क्षण उसने महाराजा जयसिंह और दिलेरखा को तैयार किया, वे दोनों सेनापति बहुत बडी सेना के साथ शिवाजी को परास्त करने के लिये चल पड़े। रायगढ के पास सन्धि के प्रस्ताव पर चर्चा होने लगी। राजा जयसिंह ने शिवाजी को लिख भेजा कि यदि आप को राजपूत के वट की बात पर विश्वास हो तो निर्भय होकर हमारे पास चले आइये। मै आप को बादशाह से क्षमा करा दूगा और इस बात का यत्न करूगा कि शाही दरबार मे आपका आदर-सत्कार किया जाय और उच्च पदवी भी दी जाय।

शिवाजी जयसिंह की बात पर विश्वास करके दिल्ली जाने के लिये तैयार हो गए। उन्हें यह भी आशा थी कि दिल्ली जाने से उन्हें बडा लाभ होगा। उनकी धारणा थी कि औरंगजेब मुझे दक्षिण का राज-प्रतिनिधि नियुक्त कर देगा। दिल्ली जाने से पहिले शिवाजी अपने आठ प्रधानों पर राज्य-भार छोड स्वय अपने पुत्र सम्भाजी और कुछ सैनिकों को साथ ले दिल्ली। पहुँच गए। उस समय दिल्ली मे एक बडे भारी दरबार की तैयारियाँ हो रही थीं। औरङ्गजेब

ने अपने सम्पूर्ण शत्रुओं को वश में कर लिया था। एक शिवाजी का ही अधिक खटका लगा रहता था, अब वह भी दरबार में स्वय उपस्थित हो गया। दरबार मे शिवाजी विराजमान तो हुए, पर उनके बैठने का स्थान तीसरे दर्जे मे नियत किया गया। दरबार में उनकी उपेक्षा की गई। यह अनादर और अपमान मराठा सरदार के हृदय में कण्टक के समान चुभने लगा। उनकी नसो मे राजपूती रक्त उबलने लगा। वे उसी समय मर्माहत हो दरबार को छोड बाहर चले गए। दिल्ली से भाग जाना कठिन था, क्योंकि उन्हें नजरबन्द रखा गया था। दूसरे दिन शिवाजी ने अपने आप को पहरेदारो स घिरा हुआ पाया। कारावास मे पड़ कर शिवाजी अपने मन क उद्वेग को रोक कर रह गए। दूसरो पर विश्वास करान वाली अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करने लगे। फिर व कारावास से मुक्त होने क उपाय सोचने म अपने दिन व्यतीत करने लग। एक दिन बीमारी का बहाना कर इलाज करवाना आरम्भ कर दिया। थोडे ही दिनो क बाद यह बात प्रसिद्ध कर दी कि बीमारी दूर हो गई है।

उस स्वस्थता क हर्ष में कारावास स मन्दिरों और मस्जिदो क पुजारियो आर मुल्लाओ क पास मिठाइयो के टोकरे भेजे जाने लगे। पहरेदार मिठाई से अपन पेट भर कर मस्ती मे आ गए। इस अवसर को पाकर शिवाजी मिठाई के एक टोकरे मे स्वय बैठ कर और दूसरे में अपने पुत्र

सम्भाजी को बैठा कर चम्पत हो गए। नगर के बाहर घोडों पर सवार हो मथुरा की ओर हवा हो गए। मथुरा से अपनी दाढी मूँछ सफ़ाचट करा साधु का रूप बदल आगरा और बनारस आदि स्थानो में घूमते हुए दक्षिण पहुँच गए।

## सिंहगढ़

शिवाजी ने दिल्ली से वापिस आते ही मुग़लों के साथ की हुई सन्धि को तोड दिया और एक-एक करके सब क़िले सुगमता से अपने अधीन कर लिए। सूरत पर धावा कर शिवाजी ने बहुत-सा धन एकत्र कर लिया। इस के बाद उन्हों ने अपने परम-मित्र तन्नाजी को साथ ले सिंहगढ के क़िले पर धावा बोल दिया। उस दुर्ग मे औरंगज़ेब ने राजपूत सेना नियत कर रखी थी। तन्नाजी केवल ३०० सैनिकों के साथ क़िले के ऊपर चढ गए। क़िले की सारी सेना में सनसनी फैल गई। राजपूतों से दो-दो हाथ होने लगे। क़िले में मरहठे खूब डट कर लडे। अन्त मे विजय शिवाजी की ही हुई। सिंहगढ का दुर्गम दुर्ग शिवाजी के हाथ में आया, परन्तु जिस समय शिवाजी ने सुना कि तन्नाजी मारे गए तो अत्यन्त दु खित हो कहने लगे कि हा शोक! सिंहगढ तो हाथ आया, परन्तु सिंह' हाथ से जाता रहा।

## राज्याभिषेक

दिल्ली से लौट कर आठ वर्ष मे शिवाजी दक्षिण मे एक शक्तिशाली सम्राट् बन गए। बीजापुर ने उनकी स्वाधीनत

स्वीकार कर ली थी। बीजापुर और गोलकुण्डा दोनों कर देने लगे। अब शिवाजी की सत्ता और अधिकार स्थिर रूप से बढ़ने लगा। दक्षिण में विजयलक्ष्मी हाथ बाँधे खड़ी थी। अब सुविशाल प्रदेश पर उनका शासन होने लगा। शिवाजी को अब महाराज की पदवी मिल गई। मरहट्टा सरदार छत्रपति शिवाजी कहलाने लगा। उसने अपने नाम का सिक्का चलाना शुरू कर दिया। सन् १६७४ में शिवाजी के राज-तिलक की तैयारियाँ होने लगीं। बड़े आडम्बर और समारोह से उनका राज्याभिषेक हुआ। शिवाजी ने स्वर्ण का तुलादान किया। वह सोना ब्राह्मणों में बाँट दिया गया। सन् १६८० में स्वतन्त्रता देवी का परम-उपासक छत्रपति शिवाजी स्वर्गपुरी को पवित्र करने के लिए इस संसार से चल बसा।

## राज्य-व्यवस्था

प्रतिकूल परिस्थितियों के होने पर भी शिवाजी के राज्य की भी वृद्धि न हो सकी। उन्हों ने विजित भागों की सुचारु रूप से शासन व्यवस्था कर दी थी। शासन कार्य चलाने के लिए कई संस्थाओं की रचना की गई थी। उसने शासन व्यवस्था को चार भागों में विभक्त किया था—(१) अष्ट प्रधान मण्डल, (२) मुल्की व्यवस्था, (३) किले और (४) सेना।

अष्ट-प्रधान-मण्डल में आठ मन्त्री नियत किए गए थे, वे मन्त्री अपने अपने अधिकारानुसार मिलकर राज-काज

तैसे मुक्त किया जाय। वे अपने काल की परिस्थिति के मूर्त्तिमान स्वरूप थे। उन्होंने केवल मुट्ठि-भर मरहट्टों को लेकर साहसिक जीवन का आरम्भ किया, असख्य कठिनाइयों का सामना किया और विपत्तियो के पारावारों को पार किया। सेना में वे सबके अगुआ होते थे। अफ़ज़लखा से भय रहने पर भी शिवाजी स्वय उससे मिलने गए। शाइस्तार्खाँ के महल मे भी वे स्वय जा घुसे। अपने भुजबल से उन्होने एक विशाल हिन्दू-राष्ट्र स्थापित कर दिखाया—एक नवीन महाराष्ट्र-राज्य की नींव रखी।

शिवाजी का उत्तम शील भी उनकी सफलता का एक मुख्य कारण था। उनमें किसी प्रकार का व्यसन न था। शिवाजी पर-स्त्री को अपनी माता और बहिन के समान जानते थे, निर्धन और दुर्बल को किसी प्रकार का कष्ट न देते थे। वे अपने काल के अद्वितीय व्यक्ति थे। उनकी सेना में सब जातियों और सब धर्मों के लोग यहा तक कि मुसलमान भी, शामिल थे, पर किसी कर्मचारी ने उनके साथ विश्वासघात नहीं किया। किसी ने छल-कपट का व्यवहार न किया। सब सेवक-जन विश्वास-पूर्वक उनका आदेश मानते थे।

शिवाजी उदार विचार के धार्मिक पुरुष थे। हिन्दूधर्म से उनकी इतनी प्रीति थी कि उस पर प्राण तक न्योछावर कर देने को सदा उद्यत रहते थे। वे तो इस्लाम धर्म का भी उचित सम्मान करते थे। यदि क़ुरान शरीफ़

कभी उनके हाथ में आ जाता तो उसे आदर-पूर्वक किसी मुसलमान भाई को दे देते थे।

शिवाजी नि स्वार्थ होकर स्वदेश का उद्धार करने में तत्पर रहते थे। उन्हें अपने निज के महत्व का कुछ भी विचार न था। दिन रात अपने देश को स्वतन्त्र करने की धुन में लगे रहते थे। अपने कर्त्तव्य के पालन मे सदा सलग्न रहते थे। सुस्ती और आलस्य को वे मनुष्य जीवन के लिए बहुत ही घातक समझते थे।

शिवाजी अपने समय के एक महान राजनीतिज्ञ पुरुष थे। राजनीति के मर्म को वे खूब समझते थे। वे साहस का उपयोग दूरदर्शिता और चातुर्य के साथ करते थे। यह उन्हीं का काम था कि प्रबल मुग़ल सम्राट् के चगुल में फस कर भी वे वहा से सुरक्षित भाग निकले। इन गुणो के कारण ही शिवाजी अपने कार्य मे सदा सफल रहे। उन्होने महाराष्ट्र देश के मस्तक को समुन्नत किया। उन्हे अपनी सफलता में पूर्ण विश्वास होता था। वे प्रचण्ड आशावादी थ। निराशा तो उन्हें छू तक नहीं गई थी।

शिवाजी के इतिहास के मनन करने से अनेक बातें ज्ञात होती हैं। उनमें एक बात सबसे बढ़कर यह है कि वे स्वाभिमान-प्रिय थे। शिवाजी अपने मान के लिए, अपनी आन के लिए अपने प्राणों की कुछ परवाह न करते थे।

हुई, पर उनके आचार-विचार में आकाश-पाताल का अन्तर था। जयचन्द स्वार्थी, अहङ्कारी और विलासी था, इसके विपरीत पृथ्वीराज स्वातन्त्र्य-प्रिय और कर्त्तव्य-परायण था। एक अत्यन्त मूर्ख था तो दूसरा अत्यन्त बुद्धिमान्। यद्यपि पृथ्वीराज अवस्था में छोटा था, पर पढ़ने-लिखने और युद्ध कला में वह जयचन्द से बढ़ा-चढ़ा था। जब कभी पृथ्वीराज की प्रशंसा होने लगती, तो जयचन्द ईर्ष्या से जला करता। साहसी, उत्साही और समझदार होने के कारण राजा अनङ्गपाल पृथ्वीराज से अधिक प्यार करते थे। वे पृथ्वीराज की वीरता के कामों को सुनकर आनन्द से पुलकित हो जाते थे।

वृद्ध अनङ्गपाल ने अपने देहावसान से पहिले ही दिल्ली का राज्य पृथ्वीराज को और कन्नौज का राज्य जयचन्द को सौंप दिया था। जयचन्द इस आशा से फूला रहता था कि मैं बड़ा हूँ, बड़ा राज्य मुझे मिलेगा, परन्तु उसका मनोरथ पूरा न हुआ। लहू का घूँट पीकर अपना-सा मुँह लिये जयचन्द को दिल्ली के महलों को छोड़ना पड़ा और परिवार-सहित कन्नौज जाना पड़ा।

## यौवन

उस समय कन्नौज के राजा जयचन्द की एक कन्या थी,

जिसका नाम सयोगिता था। सूर्योदय-दर्शन से प्रतिदिन प्रफुल्लित होने वाली पद्मिनी के समान यौवन की बहार से प्रतिदिन वह खिलती जा रही थी। उस कन्या की कान्ति, उसका रूप और लावण्य अद्वितीय था। सौन्दर्य में देवताओं की कन्याओं को उसने मात कर दिया था। गुणों में भी वह अनुपम थी। उसे देखकर उसके माता-पिता का हृदय प्रसन्नता से भरा रहता था। उसके विवाह के लिए बड़े-बड़े राजाओं के दूत राजदरबार में उपस्थित होते थे। पर योग्य वर का मिलना कठिन-सा हो गया था। ज्यों ज्यो सयोगिता की आयु बढ़ रही थी, त्यों त्यों राजा और रानी की चिन्ता भी बढ़ती जाती थी। उन्हें चिन्ता के कारण राजसी सुस्वादु भोजन भी फीका लगने लगा।

जब जयचन्द कन्नौज पहुँचने के लिये दिल्ली छोड़ रहा था, उस समय सयोगिता छोटी थी। बाल्यावस्था में अधिक समय वह पृथ्वीराज के पास ही रही थी। पृथ्वीराज उसे प्रेम से रामायण, महाभारत, इतिहास आदि की वीर-गाथाएँ सुनाया करता था। कन्नौज में रहते हुए भी सयोगिता पृथ्वीराज के उस प्रेम को भूली न थी। वह पृथ्वीराज को देखने के लिए लालायित थी।

राजा जयचन्द ने सयोगिता को नृत्य-कला सिखाने

और कई रङ्ग-विरङ्गे वस्त्रों और भाँति भाँति के भूषणों को पहनाने के लिये तैयार खड़ी रहतीं। किंतु संयोगिता राज-प्रासाद के सुख के लिये लालायित न थी। वह बड़ी साहसी स्त्री थी और इसी लिये वह साहसी और पराक्रमी पुरुष की ही पत्नी बनना चाहती थी। उसे अब खेद होता कि मैं पिता के मन को दु:खी करके यहां आई। राज-सभा में पिता का कितना अपमान हुआ है—इस बात को स्मरण कर उसे बड़ा दु:ख होता। राज प्रासाद के सुख-ऐश्वर्य्य में भी उसका चित्त अशान्त था। प्रियतम पति का पूर्ण प्रेम पाकर भी वह चिन्ता में निमग्न रहती। इस अवस्था में उस ने पिता का आशीर्वाद लेने के लिए एक दूत भेजा। आशीर्वाद के बदले पिता ने यह शाप भेजा कि जिस राज्य के लिये तूने कन्नौज के राज-वंश को कलङ्कित किया है, वह राज्य ही नष्ट हो जाय।

इस शाप को सुन कर संयोगिता छटपटाने लगी, पर क्या कर सकती थी। पृथ्वीराज के साथ शत्रुता बढ़ जाने से पिता ने स्वार्थ से लड़की पर यह कुठाराघात किया, इसका उसे बड़ा ८

## सन्धि

ने बड़ी भारी सेना एकत्र कर फिर
। पृथ्वीराज उस समय

मग्न थे। प्रेम-प्रवाह में बहते हुए पृथ्वीराज को संयोगिता ने रण के लिए उत्साहित किया। उन्हें अपने हाथों से कवच पहनाया, अपनी वाणी से देश पर मर मिटने के लिए लोगों को उत्तेजित किया। पृथ्वीराज उसी समय तैयार होगए। पहले की तरह अन्य अनेक सामन्त भी उसकी सहायता के लिए आ गए। जयचन्द के पास भी दूत भेजा गया, पर उसने दूत को वापिस भेज दिया। जिसका हृदय ईर्ष्या से भरपूर था, वह फिर कैसे सहायता का हाथ बढा सकता था। भारत वर्ष विदेशियों के आक्रमण से लुट जाय, नष्ट हो जाय, उसे क्या पडी थी कि औरों के लिए चिन्ता की गठरी सिर पर उठाये। वह तो अपना उल्लू सीधा करना जानता था।

तिरौरी के मैदान में फिर दोनों दलों की सेना एकत्र हो गई। इस बार गोरी अधिक तैयारी करके आया था। भयङ्कर युद्ध होने लगा। पृथ्वीराज रणभूमि में शत्रुओं पर सिंह की तरह कूद पडा। गाजर मूली की तरह उनके सिर काटने लगा। गोरी के सरदार उस तीक्ष्ण तलवार की घात से सदा के लिए भूमि पर सो गए। पृथ्वीराज की विजय हुई और गोरी बन्दी बना लिया गया।

गोरी सम्मान-पूर्वक दिल्ली लाया गया। उसे राज-सभा में खडा किया गया। लज्जा और चिन्ता में डूबा हुआ वह सोच रहा था कि अब मेरी क्या दुर्दशा होगी। उसका साहस [illegible]द्म की भाँति विलीन होने लगा। उसके शरीर के

की नीचता और स्वार्थपरता से पृथ्वीराज की छाती फटने लगी। जयचद संयोगिता का पिता होते हुए भी कितना नृशंस और देश-द्रोही था, जिसने केवल पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए ही गोरी को अपने देश पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रित किया।

## तृतीय आक्रमण

गोरी बड़ी भारी सेना लेकर तीसरी बार तिरौरी के मैदान में आ डटा। वहाँ जयचन्द ने भी गोरी की सहायता करने के लिए अपना डेरा लगाया, पृथ्वीराज और संयोगिता अपने देश को इस आपत्ति से बचाना चाहते थे। वे दोनों वेश बदल कर जयचन्द की छावनी में आ गए। रात्रि का समय था, संयोगिता अपने पिता की क्रोधाग्नि के सामने थर-थर काँप रही थी। अपने जामाता और लड़की को देख कर जयचन्द अँगारे उगलने लगा। संयोगिता अपने देश को इस उत्पात से बचाने के लिए पिता से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँग रही थी, पर जयचन्द का हृदय स्नेह से शून्य था। उसने दिल खोल कर लड़की को फटकारा। यह देख कर पृथ्वीराज की आँखें जोश से लाल हो गई, पर उस समय वे क्या कर सकते थे।

ऐसे निरादर की कुछ भी परवाह न करते हुए पृथ्वीराज और संयोगिता सिर नवा कर बोले—"महाराज! यदि आप किसी का राज्य लेना चाहते हैं तो हम आपको अर्पण

करने के लिए तैयार हैं । यदि आप हमें बन्दी बना कर रखना चाहते हैं या दिल्ली के राज्य से बाहर निकाल कर जङ्गलों में भेजना चाहते हैं तो हम उसके लिए तैयार हैं । पर हमारी एक प्रार्थना को स्वीकार कीजिए—इस देश को विदेशी यवनों के हाथों से बचा लीजिए । यदि यवनो ने दिल्ली अपने अधीन कर ली, तो, समझ लीजिए, वे लोग जहाँ जाँयगे, वहाँ की ईंट-से ईंट बजा देंगे ।"

'इस युद्ध के बाद देखा जायगा'—जयचन्द के ये शब्द सुनकर सयोगिता और पृथ्वीराज मस्तक पर हाथ रख कर अपनी राजधानी में वापिस आ गए । उनका सारा प्रयत्न, सारी प्रार्थना और सारा त्याग निष्फल गया ।

युद्ध आरम्भ हुआ । जयचन्द और गोरी एक तरफ थे, पृथ्वीराज, समरसिंह तथा दूसरे सामन्त दूसरी ओर । पृथ्वीराज और दूसरे वीर अपनी जान हथेली पर रख कर रणभूमि में प्रवेश करने लगे । बड़े वेग से तलवारें चलने लगीं, सहस्रों सैनिक कट-कट कर गिरने लगे । रुधिर की नदी में लहरें उठने लगीं । समरसिंह तलवार के वार से मारे गए । पृथ्वीराज की तलवार ने असख्य शत्रुओं के सिर काट दिये । दिन-भर खड्ग चलाते-चलाते पृथ्वीराज थक गए थे । अन्त में वे भी शत्रुओं द्वारा मारे गए । पृथ्वीराज की देह पृथ्वी पर गिर पड़ी, पर उनकी खड्ग-युत-मुट्ठी ढीली न पड़ी ।

# रानी दुर्गावती

पन्द्रहवीं और सोलवीं शताब्दी में भारतवर्ष के मध्य प्रान्त के उत्तरी भाग में गोंड-जाति राज्य करती थी। गोंड जाति की अधिकता के कारण इस देश का वह भाग उस समय गोंडवाना* के नाम से विख्यात था। इस सुविस्तीर्ण प्रान्त में 'गढनगर' तत्कालीन शासकों की राजधानी थी। समय के हेर-फेर से इस समय गढनगर का नाम-निशान मिट गया है। वर्तमान जबलपुर से तीन मील की दूरी पर उस नगर के राज प्रासादों के टूटे-फूटे स्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। प्राय ८०० वर्ष पूर्व मदनशाह नामक गोंड राजा ने एक सुविशाल और सुन्दर महल बनवाया था, जो आज भी कुछ अच्छे रूप में विद्यमान है और 'मदन महल' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

* आइने अकबरी में भी यह बात मिलती है कि मध्यप्रान्त का उत्तरी भाग गोंडों से भरा हुआ था और वह प्रान्त गोंडवाना के नाम से प्रसिद्ध था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उस प्रान्त में महाबली संग्रामसिंह नरेश राज्य करते थे। जबलपुर से प्रायः ५ मील की दूरी पर उन्होंने 'चौरागढ़' नामक एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाया था। उसी में सुरक्षित रह कर राजा संग्रामसिंह राज्य कार्य करते थे। उनका राज्य-प्रबन्ध प्रशंसनीय था। वह राज्य उस समय सम्पत्ति और सुशासन की दृष्टि से उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था। वहाँ सदैव स्वतन्त्रता का झण्डा लहराया करता था। जब संग्रामसिंह की मृत्यु हुई, उस समय उनका पोता दलपतिशाह सिंहासन पर बैठा। वह भी संग्रामसिंह की तरह महापराक्रमी था। वह अपने राज्य में न्याय-नीति से व्यवहार किया करता था। प्रान्त भर में उसकी शुभ कीर्ति-पताका फहरा रही थी। उसके बल-वैभव, न्याय नीति और अद्भुत पराक्रम को देख तत्कालीन अन्य राजा भी उसका समुचित सम्मान किया करते थे। केवल एक भूपति, जिसका नाम शालिवाहन था, दलपतिशाह का विरोधी था।

शालिवाहन महोबा का राजा था। वह उच्चवंश में उत्पन्न होने के कारण अपने आपको उच्च-अधिपति समझता था। असभ्य जाति के राजा दलपतिशाह की महिमा उसे स्वीकार न थी। पर शालिवाहन में इतनी शक्ति भी न थी कि वह अपने भुज-बल से दलपतिशाह को अपने अधीन कर सकता। वह उस अवसर की ताक में था कि जब दलपतिशाह समाज के सम्मुख अपमानित हो सके। कई वर्षों से

और पति-सेवा-परायणा आर्य रमणी को पाकर बड़े प्रसन्न थे। दुर्गावती की प्रार्थना से शालिवाहन छोड़ दिये गये और उन्हें महोबा का राज्य भी लौटा दिया गया।

गृहलक्ष्मी को प्रसन्न कर दलपतिशाह राजलक्ष्मी को प्रसन्न रखने के लिए परिश्रम करने लगे। सब से पहिले उन्होंने मण्डला-नामक अपनी पुरानी राजधानी छोड़ी। दमोह जिले के सिंगौरगढ़ नामक स्थान को राजधानी बनाया। यह स्थान राज्य-मण्डल के ठीक मध्य में था और इस का दुर्ग सुदृढ़ और सुविस्तीर्ण था, इस लिए दलपतिशाह ने राज्य-कार्य के लिए इस स्थान को बहुत उत्तम समझा। अब राज्य-कार्य बड़ी उत्तमता से चलने लगा। प्रजा दलपतिशाह के शासन से बड़ी सन्तुष्ट थी। राज्य में किसी प्रकार का अत्याचार न किया जाता था। धन-धान्य बहुत होने से प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न दीखता था। दलपतिशाह प्रजा के साथ पुत्र सदृश व्यवहार करते थे और प्रजा भी उन्हें पिता समझ कर उन की आज्ञा पालन करती थी। इस तरह राजा और प्रजा के मध्य प्रेम-व्यवहार बढ़ने लगा।

कुछ काल के बाद दुर्गावती का एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का नाम वीरनारायण रखा गया। उस पुत्र-रत्न को पाकर पति-पत्नी की प्रसन्नता का पारावार न रहा। वे अपने को बड़े भाग्यशाली समझते

और कृपानिधान परमात्मा को हार्दिक धन्यवाद देते। अब उनके दिन पुत्र के लाड-प्यार मे व्यतीत होने लगे, जिससे उन्हें अकथनीय सुख मिलने लगा। पर कठोर और निर्दयी विधाता को उनका सुख दीर्घ काल तक स्वीकार न था। सौभाग्य-सूर्य मध्याह्न काल में ही अस्त हो गया। चार-पाँच वर्ष ही सुख से व्यतीत हुए कि राजा दलपतिशाह बीमार पड गये। बीमारी बढती ही गई, ज्यों ज्यों दवा की। अन्त में वह बीमारी उनके प्राण ले गई। सारा राज्य अपने अत्यन्त प्रिय शासक के वियोग दु ख मे डूब गया।

—३—

यौवनावस्था मे दलपतिशाह अपनी पत्नी को मँझधार मे छोड गये। दुर्गावती पति के साथ सती होना चाहती थी पर सूने राजसिंहासन के भार को कौन सँभाले। अल्प वयस्क शिशु का कौन पालन-पोषण करे। दुर्गावती बड़ी दुविधा मे पड गई। इन प्रश्नो ने दुर्गावती को राजपूत रमणियों के सदृश सती न होने दिया। विवश होकर उसने सती होने का सकल्प छोड दिया। उसने अपने कर्तव्य को समझा, और धैर्य का आश्रय लिया। अपने कर्तव्य में निमग्न होकर पुत्र-वात्सल्य में उसने अपने दारुण शोक को भुला दिया। पिता की मृत्यु के बाद कुमार वीरनारायण राज्य का अधिकारी था। अत राज्य के ने उस बालक का यथाविधि राज्याभिषेक कर

अपने पति की मृत्यु के बाद महारानी ने समय समय पर राज्य का भी विस्तार किया। केवल अपने पति के कमाये हुए यश को स्थिर ही नहीं रखा, अपितु उस की अधिक वृद्धि की। अवसर मिलने पर महारानी समीपस्थ प्रान्तों पर आक्रमण किया करती और जीत कर अपने राज्य में मिला लेती। महारानी ने उस समय मालवाधिपति बाजबहादुर के देश को जीत कर भूपाल आदि कई प्रान्त अपने राज्य में मिला लिये।

१२ वर्ष तक महारानी दुर्गावती शान्तिपूर्वक अपने देश पर शासन करती रही। उस के सुचारू शासन से प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी। देश धन-धान्य से भरपूर था। राज्य में किसी प्रकार की कमी न थी। महारानी की कीर्त्ति अन्य प्रान्तों में फैल चुकी थी। उस के बल और ऐश्वर्य का समाचार निकटस्थ यवन शासकों के कानों तक पहुँच चुका था। उन की मार्जार-दृष्टि अब इस समृद्धिशाली देश की ओर पड़ने लगी। वे उसे हड़पने के लिये दिन रात युद्ध की तैयारियाँ करने लगे।

उस समय दिल्ली पर अकबर बादशाह राज्य करता था। वह सम्पूर्ण भारत को अपने आधीन करना चाहता था। भारत के एक छत्र सम्राट बनने की उस में प्रबल अभिलाषा थी। भारतवर्ष के मान चित्र को बार बार देख कर वह इस विचार में पड़ा रहता कि पहले किस किस देश को हस्तगत किया जाय। उस की इच्छा थी कि सिकन्दर के समान

प्रभुता और कुबेर के समान ऐश्वर्य हाथ आ जाय । उसने भारतीय अन्य शासकों को भिन्न भिन्न उपायों से अपने आधीन कर रखा था । किसी की लड़की लेकर, किसी को धन देकर, किसी को कुछ भूमि अर्पण कर, किसी पर चढ़ाई कर, किसी न किसी उपाय से उसने अनेक राजाओं को अपनी छत्रछाया के नीचे ला रखा था । महाराणा प्रताप को छोड़ बड़े बड़े वीर राजपूत उसकी आँख के इशारे पर चला करते थे । जब अकबर ने दुर्गावती के ऐश्वर्य की गाथा सुनी, तो उसके कान खड़े हो गये । लोभ ने उसके दिल के अन्दर घर कर लिया । वह आश्चर्य में पड़ कर सोचा करता कि एक स्त्री अपने राज्य का इतना विस्तार करे और वह इतनी अतुल सम्पत्ति की स्वामिनी हो ? इस ईर्ष्या से जल कर अकबर ने तत्क्षण अपने सेनापतियों को आदेश दिया कि एक बड़ी भारी सेना तैयार कर गोंडवाना की ओर भेजी जाय । सम्राट् के आदेशानुसार आसफ़खाँ महती सेना लेकर गोंडवाना की ओर चल पड़ा ।

—५—

सम्राट् अकबर ने एक विधवा और अनाथ स्त्री पर आक्रमण कर दिया । महारानी ने सम्राट् के साथ किसी प्रकार का द्वेष उत्पन्न न किया था । बिना किसी कारण या अपराध के अकबर ने धावा बोल दिया । न्याय और औचित्य को तिलांजलि देकर सम्राट अकबर ने केवल अपने राज्य के विस्तार के लोभ से दूसरों की सम्पत्ति को हस्तगत करने के लिए चढ़ाई की । जब दुर्गावती को आक्रमण

था। इस कलंक को धोने के लिए उस ने फिर विपुल सेना के साथ आसफ़ख़ाँ को तैयार किया। फिर घोर युद्ध होने लगा। पहली जीत से रानी और उस की सेना का साहस द्विगुणित हो गया था, इस लिए वे अधिक उत्साहित हो अपने प्राणों को हथेली पर रख कर लड़ने लगे। दुर्गावती की प्रबल सेना के आगे मुग़ल सेना उस युद्ध में भी न ठहर सकी। मुग़लों ने फिर अपनी पीठ दिखा दी। आसफ़ख़ाँ उस हार से अत्यधिक लज्जित हुआ। और अकबर को अपना मुँह न दिखा सका।

उस हार के बाद सम्राट् अकबर और आसफ़ख़ाँ चिन्ता में पड़ कर सोचने लगे कि अब क्या किया जाय। दाम और दण्ड से उन्हें कुछ सफलता न मिली थी। अब उन्होंने फूट नीति का आश्रय लेने का निश्चय किया। गोंडवाना में भेद का बीज बोया गया। उस बीज की जड़ें इतनी पुष्ट और प्रबल हो गईं कि बलवती दुर्गावती उन्हें उखाड़ने में समर्थ न हो सकी।

गोंडवाना में बदनसिंह नामक एक जागीरदार रहता था। वह प्रजा पर मनमना अत्याचार किया करता। प्रतिदिन के दुराचार से प्रजा बड़ी तङ्ग थी। रानी के पास शिकायतों की भरमार पहुँचने लगी। रानी ने प्रजा की बात पर बदनसिंह की जागीर राज्य के साथ मिला ली। बदनसिंह क्रोध से जलता हुआ सम्राट अकबर के पास पहुँचा। उसे गोंडवाना का सम्पूर्ण भेद दे दिया।

इधर बदनसिंह अपना वैर निकालने के लिये अकबर के कान भर रहा था, उधर दूसरा देशद्रोही गिरधारीसिंह, जो दुर्गावती का सरदार था, सेना को निरुत्साह करने का प्रयत्न कर रहा था। यह भी प्रजा पर अत्याचार किया करता था। देश में स्थान-स्थान पर फूट का बीज बोया करता था। रानी ने विवश होकर उसे अपने क़िले में नज़रबन्द कर दिया।

राज्य में गृह-कलह होने लगा। घर के ही आदमी देश में शत्रु हो गये। देश की दशा बिगड़ने लगी। दुर्गावती इस भेदभाव को देखकर भयभीत होने लगी, पर उसने अपना साहस न छोड़ा। वह प्रत्येक परिस्थिति के लिये उद्यत रहती। वह अपने देश की रक्षा के लिये अपने और अपने पुत्र तक के प्राणों की आहुति करने के लिये हर समय तैयार रहती थी।

अकबर ने अब तीसरी बार ६०,००० सैनिकों के साथ आसफ़ ख़ाँ और सेनापति अब्दुलमजीद ख़ाँ को गढ़मंडला की ओर भेजा। देश-द्रोही बदनसिंह भी उनके साथ था। मार्ग-प्रदर्शक बन कर उसने शत्रुओं को गुप्त-मार्गों का पता दिया। इस आक्रमण पर दुर्गावती ने अपने विश्वस्त सैनिकों को एकत्र किया। मन्त्री आधारसिंह और कुमार वीरनारायण भी रानी के साथ थे। सेना को तीन भागों में विभक्त किया गया। एक भाग की नायिका स्वयं रानी बनी और बाकी दो भागों के नायक आधारसिंह और वीरनारायण बने।

दोनों सेनाएँ रणक्षेत्र में जुट गयीं। एक ओर

और झट अपनी छाती मे भोंक दिया । महारानी उसी समय सदा के लिए शयाशय्या पर सो गई । गोंड वीरो ने उस के मृत शरीर को उठा लिया और माता और पुत्र दोनों के शवों की यथोचित दाह-क्रिया की ।

रानी की मृत्यु के बाद भी गोंड वीर जान तोड कर लडते रहे, पर वे असख्य मुग़लो के साथ कब तक लड सकते थे । अत मे आसफख़ाँ की विजय हुई । गोंडवाना पराधीन हुआ, अकबर की अतृप्त अभिलाषा पूर्ण हुई । चन्दनसिंह और गिरधारीसिंह को क्या मिलना था । उन का भी सिर तलवार से पृथक कर दिया गया ।

## उपसहार

दुर्गावती का जीवन-चरित्र स्वर्णाक्षरों में लेख-बद्ध होने योग्य है । भारत के इतिहास में ऐसी कोई भी स्त्री दिखाई नहीं देती, जिस ने अपने पति के मरने के बाद अपने आप को इस तरह देश के लिये बलिदान कर दिया हो । वह जीवन-पर्यन्त देश का उद्धार करती रही, देश के लिए लडती रही और अन्त में देश के लिए ही होम हो गई । यों तो कई भारतीय स्त्रियों ने अपनी वीरता दर्शाई है, पर दुर्गावती की वीरता अधिक सराहनीय है । जिस पर आजीवन आपत्तियों के पर्वत टूटते रहे पर दुर्गावती अपने कर्तव्य से, अपने लक्ष्य से तनिक भी विचलित न हुई । स्वतन्त्रता के मूल्य को वह अच्छी तरह समझती थी । स्वतन्त्रा के लिए वह अपने खून को, अपने पेट से

पैना हुए पुत्र के खून को भी तुच्छ समझती थी। उसका शरीर तीरों से छलनी हो गया, आँख बन्द हो गईं, पर अन्त समय तक वह रणभूमि में डटी रही। जब तक भारत का इतिहास रहेगा, दुर्गावती का नाम, उसका त्याग, उसकी वीरता और बलिदान की कथा सदा अमर रहेगी।

अनिरुद्ध शत्रुओं का सामना करने के लिये अपने प्राण हथली पर रख कर दुर्ग के बाहर चले जाते तो शीतला देवी जल विहीन मीन की तरह तड़पा करती थी। कई बार वह रो रो कर अनिरुद्ध से कहा करती—"मुझ दुखिया के जीवन प्राणनाथ! मैं आपके बिना नहीं रह सकती। यह सुन्दर शीश महल, ये सुन्दर वस्त्र और सुस्वादु भोजन आपके बिना निस्सार हैं। मुझे अपने पास ही रखिए। मुझे अपनी सेवा से वञ्चित न कीजिए। जहा आप जाएँगे, मैं छाया की तरह आपकी अनुगामिनी बनूँगी। आपके साथ व्रत रख कर कन्द-मूल खा कर अपना जीवन व्यतीत करूगी। आपकी चरण सेवा से अपना जीवन सफल करूगी।"

अनिरुद्ध रुद्ध कण्ठ से कहा करते—"प्राणों से प्रिय शीतले देवी, मैं क्या करू, शत्रु हाथ धो कर पीछे पड़े हुए हैं। इस दुर्ग की ईंट से ईंट बजाने क उपाय करते रहते हैं। पूर्वजों ने अपने प्राणो से इस दुर्ग की रक्षा की है। यदि मैं इस दुर्ग की गुफा मे छिप कर बैठ जाऊँ तो फिर हमारा नाश दूर नहीं। जिस प्रजा के हम सरक्षक कहलात हैं, वही प्रजा हमें सदैव कलङ्कित करेगी। हमे अपना कर्तव्य भूलना न चाहिए। प्रजा की रक्षा करना हमारा परम धर्म है। यदि तू युद्ध मे लड़ना जानती, तो मैं तुझे सदैव अपने साथ ही रखता।

पति की आज्ञाकारिणी शीतला क्या कर सकती थी। ठण्डी साँस लेकर बैठ गई। जैसा कि आर्यनारी का धर्म है, उसने भी अपने आपको पति की इच्छा पर छोड़ दिया। पति जिस तरह प्रसन्न रहे, उसी तरह अपने मन को प्रसन्न रख कर निश्चिन्त बैठ गई।

एक दिन अनिरुद्ध युद्ध के बाद घर लौट आया। उसका मुख उदासीन नजर आता था। उसके भीगे वस्त्रों से पानी की बूँदें भूमि पर टपक रही थीं। पति के दर्शन कर शीतला के जी का बोझ हलका हुआ। जब वह ईश्वर का धन्यवाद करती हुई पति को लोचनों मे रख कर प्रसन्नता से झूम रही थी, तब सारन्धा ने भैया की विकल दशा को देख कर प्रश्न किया –"भ्राता जी, आपके कपड़े कैसे भीगे ?" अनिरुद्ध ने खिन्न मन से उत्तर दिया—"अभी नदी तैर कर आया हूँ"।

सारन्धा ने फिर प्रश्न किया—"आपके अस्त्र कहाँ हैं, और आपकी सेना कहाँ है ?"

अनिरुद्ध ने अपना मुख नीचे कर उत्तर दिया— "सेना रणशय्या पर सो गई"।

शीतला तो यह बात सुन कर मन में बड़ी प्रसन्न हुई कि ईश्वर की कृपा से पति जी कुशलपूर्वक घर वापिस आ गए पर सारन्धा नीली पीली होकर कहने लगी—"अपनी मृत-सेना को रण में छोड कर अपने प्राण लेकर तू यहाँ भाग आयगा—ऐसी आशा तुझ से कदापि न थी। तू ने अपने

तुच्छ जीवन की रक्षा की, पर पूर्वजों के नाम को बट्टा लगा दिया।"

अनिरुद्ध अपनी बहिन की यह फटकार सुन कर लज्जा और ग्लानि से क्षुब्ध हो गया। इस धिक्कार-वाक्य ने उसे सचेत करदिया। अपनी बहिन की ओर मुख करके कहने लगा— "बहिन ! अब मैं सँभल गया। तू ने मुझे सावधान कर दिया। मैं शत्रुओं का सामना करने के लिए फिर जाता हूँ"। यह कह कर वह उलटे पैरों वापिस चला गया।

शीतला देवी उसके पीछे दौडने लगी, पर अनिरुद्ध बिजली की तरह तुरन्त विलीन हो गया। शीतला दुर्ग के एक कोने में बैठ कर आसू बहाने लगी। उसके नयनों से आँसुओं की झडी लगी देख सारन्धा वहाँ आ गई। शीतला उसे निकट आई देख क्रोधानल से जल कर कहने लगी—"क्या तुम्हें भैया का नाश इतना प्यारा है?"

सारन्धा ने हँस कर कहा—"हाँ"।

शीतला का क्रोध अधिक भडक उठा, कहने लगी— "तुम्हारा अपना पति होता, तो उसे अपनी आँखों के सामने ही रक्षा करतीं"।

सारन्धा बोली—"यह कभी न होता। मैं उसकी छाती में कटार मार कर बाहिर निकाल देती"। फिर बोली— "समय आने पर यह भी देख लेना"।

कई दिन बीत गए। अनिरुद्ध शत्रुओंपर विजय पाकर घर लौट आया। इस के बाद शान्ति का राज्य

हुआ। अब अनिरुद्ध को सारन्धा की चिन्ता सवार होने लगी। उस समय युवती सारन्धा विवाह-योग्य हो गयी थी। उन दिनों में सारे बुन्देलखण्ड में चम्पतराय का बोलबाला हो रहा था। उस वीर-पुरुष को स्वतन्त्रता से अधिक प्रेम था। बुन्देलखण्ड के महाराज रुद्रप्रताप के कुल में उसका जन्म हुआ। उसके पिता का नाम भगवानदास था, उसे महोवे में कुल ३५०) वार्षिक की जागीर मिली थी। उस थोडी-सी आय से उसका निर्वाह होना कठिन था। इस लिए उसने छोटा-सा दल बना कर इधर-उधर डाका डालना आरम्भ किया। धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढती गई, उसने बड़ी भारी सम्पत्ति एकत्र कर ली। फिर उसने देश की रक्षा का भार भी अपने सिर पर ले लिया। देश के बहुत से स्वतन्त्रता-प्रिय लोग उसके झंडे के नीचे आकर देश का उद्धार करने में जुट गए और अपना नायक मानने लगे।

अनिरुद्धसिंह ने वीर चम्पतराय को ही सारन्धा के लिए योग्यवर समझा। सगाई की बात चली और चम्पतराय ने स्वाधीनता-प्रिय सारन्धा को अपनी पत्नी बनाना स्वीकार कर लिया। बड़े समारोह से उनका विवाह-उत्सव सम्पन्न हुआ। सारन्धा का मनोरथ भी सफल हुआ कि उस का पति स्वतन्त्रता-देवी का उपासक है और बुन्देलखण्ड में एक प्रसिद्ध और वीर-व्यक्ति माना जाता है।

चम्पतराय युद्ध-कला मे बडा प्रवीण था। वह अवसर

पाकर शत्रुओं पर आक्रमण किया करता था। मुग़ल सम्राट् ने उसे पकड़ने के लिये कई बार सेना भेजी, पर उसका प्रयत्न सफल न हुआ। अन्त में तंग आकर मुग़ल सम्राट् ने बली बहादुर और अब्दुल्लाखाँ को सेनापति बनाकर बड़ी भारी सेना भेजी। यद्यपि चम्पतराय ने अपनी वीरता का पूर्ण परिचय दिया, पर अन्त में उसको अपनी हार माननी पड़ी और मुग़ल सेना से उसने सन्धि कर ली। चम्पतराय ने दिल्ली जाना स्वीकार कर लिया। सम्राट् चम्पतराय को देख कर और उसकी वीरता का हाल सुन बड़े प्रसन्न हुए। दरबार में उसका अच्छी तरह से स्वागत और सम्मान किया गया।

उस समय कुम्हारगढ़ का दुर्ग अजेय रह गया था। सम्राट् की ओर से चम्पतराय को आदेश दिया गया कि वह इस दुर्ग पर आक्रमण करे और अपनी वीरता दिखाए। उस समय चम्पतराय ने आक्रमण करना स्वीकार कर लिया। वहाँ जाकर अपनी सेना सहित चम्पतराय ने दुर्ग को घेर लिया और अपनी जान की बाज़ी लगाकर दुर्ग को भी जीत लिया। सम्राट् तथा उनके युवराज दाराशिकोह इस जीत से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने चम्पतराय का यथोचित आदर-सत्कार किया और उसे कौंच की बहुमूल्य जागीर पुरस्कार स्वरूप में सौंप दी।

चम्पतराय अब दिल्ली में शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगा। राज्य के ऐश्वर्य को पाकर वह अपनी मातृभूमि को भूल गया। भोग-विलास के सुख में अपने दिन पूरे करने लगा। महलों में नाच-गान से अपना दिल बहलाने लगा। पर

सारन्धा यह ऐश का सामान देख कर कुढ़ा करती। मन मसोस कर रह जाती थी। जब से वह दिल्ली आई थी, तभी से उसका मन दुखी रहने लगा था। उसके मुख की कान्ति मुरझा सी हो गई थी। पति को अन्य देश के विलास-सुख में आसक्त देख मन ही मन कुढ़ा करती और घण्टों एक कोने में बैठ कर रोया करती थी।

एक दिन चम्पतराय ने प्रेम से पूछा—"प्राणप्रिये! यह क्या बात है कि तू यहाँ सदैव उदास रहती है। क्या तू मुझ से अप्रसन्न है"?

सारन्धा ने नेत्रों से आँसू बहाते हुए उत्तर दिया—"मैं उदास नहीं रहती, मेरी आकृति ही ऐसी है"।

चम्पतराय—"मैं यह सत्य नहीं मानता। महोबे का वह प्रफुल्ल मुख-कमल यहाँ कैसे मुरझा गया? क्या तुझे मेरा सुख अच्छा नहीं लगता? जब से मैं यहाँ आया हूँ, न जाने, तुम्हारे मुख की श्री कहाँ छिप गई। तुम्हारा वह प्रेम, न मालूम, कहाँ विलीन हो गया"।

सारन्धा—"मेरा प्रेम आपके साथ जैसा अपनी मातृभूमि में था, वैसे ही यहाँ भी है। आर्य-नारी का प्रेम पति के साथ सदैव बना रहता है। उस प्रेम बेलि को कोई काट नहीं सकता। यदि मैं यहाँ उदास रहती हूँ तो इसका एक विशेष कारण है। यदि आप क्रुद्ध न हों और आपकी आज्ञा हो तो मैं निवेदन कर दूँ"।

को अपने साथ मिला लिया। जब उनकी समिलित सेना धौल-पुर के पास चम्बल के तीर पर पहुँची, तो सामने देखा गया कि दाराशिकोह एक महती सेना लिये तैयार खड़ा है। इतनी भारी शाही सेना को देख कर औरङ्गजेब की सुध-बुध उड़ गई। उसके लिये दारा पर विजय पाना टेढ़ी खीर थी। वह आश्चर्य में पड़ कर सोचने लगा कि अब क्या किया जाय। उसने लड़ाई से पीछे हटना भी ठीक न समझा। दिल्ली के सिंहासन का लोभ उसे पीछे कहाँ जाने देता था। इस दुविधा में पड़ कर औरङ्गजेब ने चम्पतराय को यह पत्र लिखा—"आप वीर पुरुष हैं, बुन्देलखण्ड की शान हैं। मैं महासागर के भँवर में पड़ा हुआ हूँ। इस विपत्ति के समय सिवा आप के मेरा कोई आश्रय नहीं। खुदा के लिए मेरी इस मँझधार में डगमगाती हुई नौका को पार लगाइये। अगर आपने मेरी सहायता की, तो मैं आपका सदैव कृतज्ञ रहूँगा"।

इस पत्र को पाकर चम्पतराय बार-बार पढ़ने लगे। पढ़ते ही दिल्ली का वह ऐश्वर्य-भोग, वह रागरंग उसके मन की आँखों के सामने चक्कर लगाने लगा। दिल्ली में कैसे आनन्द से दिनकटी होती थी। इस तरह दिल्ली की याद रह-रह कर उसके मन को चञ्चल करने लगी। परन्तु सारन्धा का भय और उसकी अप्रसन्नता उसे डाँवाडोल कर देती। जब चम्पतराय दिल्ली छोड़ कर महोबे वापिस आए, उस समय दारा के साथ उस का विरोध बढ़ गया था।

अपने वैर शोधन के लिये चम्पतराय ने यह अच्छा अवसर देखा। उसने औरंगजेब को सहायता देने की स्वीकृति भेज दी।

परन्तु जब सारन्धा के कानो मे यह समाचार पडा तो वह जल गई। तुरन्त पति के पास आ कर पूछने लगी—"क्या यह सत्य है कि आपने औरंगजेब को सहायता देने का पत्र भेज दिया है ?"

चम्पतराय—"हाँ, यह सत्य है"।

सारन्धा—"आप के लिए यह उचित नहीं था। मुझे आप की उतावली अच्छी नहीं लगती। आपका यह कार्य देश के लिए कुठाराघात सिद्ध होगा। यह समय अपनी शक्ति बढाने का है, न कि व्यर्थ खर्च करने का। देश की स्वतन्त्रता का इस तरह सत्यानाश हो जायगा। क्या हमारे लिये यह ठीक है कि हम दूसरो को अपने अधिकार से वचित करें ? गद्दी का अधिकारी दारा है, न कि औरङ्गजेब। औरङ्गजेब के इस उद्योग को मैं धर्मानुकूल नहीं समझती। आप औरङ्गजेब को सहायता दे कर केवल महापाप मूल्य ले रहे हैं"।

चम्पतराय ने हस कर कहा—"तुम पगली को क्या पता कि इस समय किस राजनीति का आश्रय लेना है"।

सारन्धा ने क्रोध में आकर उत्तर दिया,—"उस राजनीति को कुएँ में डालो, जिस में धर्म की पुट नहीं"।

चम्पतराय—"प्राणप्रिये ! तुम सत्य कहती हो पर अब क्या कर सकता हूँ। वचन दे चुका हू। वचन मोडना तो अब ठीक नहीं"।

को अपने साथ मिला लिया। जब उनकी सम्मिलित सेना धौलपुर के पास चम्बल के तीर पर पहुँची, तो सामने देखा गया कि दाराशिकोह एक महती सेना लिये तैयार खड़ा है। इतनी भारी शाही सेना को देख कर औरङ्गजेब की सुध-बुध उड़ गई। उसके लिये दारा पर विजय पाना टेढ़ी खीर थी। वह आश्चर्य में पड़ कर सोचने लगा कि अब क्या किया जाय। उसने लड़ाई से पीछे हटना भी ठीक न समझा। दिल्ली के सिंहासन का लोभ उसे पीछे कहाँ जाने देता था। इस दुविधा में पड़ कर औरङ्गजेब ने चम्पतराय को यह पत्र लिखा—"आप वीर पुरुष हैं, बुन्देलखण्ड की जान हैं। मैं महासागर के भँवर में पड़ा हुआ हूँ। इस विपत्ति के समय सिवा आप के मेरा कोई आश्रय नहीं। खुदा के लिए मेरी इस मँझधार में डगमगाती हुई नौका को पार लगाइये। अगर आपने मेरी सहायता की, तो मैं आपका सदैव कृतज्ञ रहूँगा"।

इस पत्र को पाकर चम्पतराय बार-बार पढ़ने लगे। पढ़ते ही दिल्ली का वह ऐश्वर्य-भोग, वह रागरंग उसके मन की आँखों के सामने चक्कर लगाने लगा। दिल्ली में कैसे आनन्द से दिन कटी होती थी। इस तरह दिल्ली की याद रह-रह कर उसके मन को चञ्चल करने लगी। परन्तु सारन्धा का भय और उसकी अप्रसन्नता उसे डाँवाडोल कर देती। जब चम्पतराय दिल्ली छोड़ कर महोब वापिस आए, उस समय दारा के साथ उस का विरोध बढ़ गया था।

अपने वैर शोधन के लिये चम्पतराय ने यह अच्छा अवसर देखा। उसने औरंगजेब को सहायता देने की स्वीकृति भेज दी।

परन्तु जब सारन्धा के कानों में यह समाचार पड़ा तो वह जल गई। तुरन्त पति के पास आ कर पूछने लगी—"क्या यह सच है कि आपने औरंगजेब को सहायता देने का पत्र भेज दिया है?"

चम्पतराय—"हाँ, यह सत्य है"।

सारन्धा—"आप के लिए यह उचित नहीं था। मुझे आप की उतावली अच्छी नहीं लगती। आपका यह कार्य देश के लिए कुठाराघात सिद्ध होगा। यह समय अपनी शक्ति बढ़ाने का है, न कि व्यर्थ खर्च करने का। देश की स्वतन्त्रता का इस तरह सत्यानाश हो जायगा। क्या हमारे लिये यह ठीक है कि हम दूसरों को अपने अधिकार से वञ्चित करें? गद्दी का अधिकारी दारा है, न कि औरङ्गजेब। औरङ्गजेब के इस उद्योग को मैं धर्मानुकूल नहीं समझती। आप औरङ्गजेब को सहायता दे कर केवल महापाप मूल्य ले रहे हैं"। -

चम्पतराय ने हंस कर कहा—"तुम पगली को क्या पता कि इस समय किस राजनीति का आश्रय लेना है"।

सारन्धा ने क्रोध में आकर उत्तर दिया,—"उस राजनीति को कुएँ में डालो, जिस में धर्म की पुट नहीं"।

चम्पतराय—"प्राणप्रिये! तुम सत्य कहती हो पर अब क्या कर सकता हूँ। वचन [illegible]। वचन मोड़ना तो ठीक नहीं"।

हुए। दारा अपनी जान बचा कर लाहोर और मुलतान की ओर भाग गया। अपनी पत्नी की वीरता देख चम्पतराय चकित हो गये। उसका तो अंग अंग प्रफुल्लित हो उठा।

इस विजय के बाद जब औरंगजेब की सेना ने लूटना आरम्भ कर दिया तब चम्पतराय की दृष्टि एक सुन्दर घोड़े पर पड़ी। यह घोड़ा सज्जाविहीन अपने स्वामी शाही सेना के सेनापति वलीबहादुर के पास खड़ा अपनी दुम से उसकी मक्खियाँ उड़ा रहा था। घोड़े की यह स्वामि-भक्ति देख चम्पतराय का जी भर आया। उसे भी सुन्दर घोड़े रखने का बड़ा शौक था। हुक्म हुआ कि जो इस घोड़े को पकड़ कर लायगा उसे बहुत इनाम दिया जायगा। कई बुन्देलों ने यत्न किया पर घोड़ा किसी के हाथ न आया। अन्त में बड़े प्रयास के बाद वह घोड़ा सारन्धा के हाथ लगा।

तब औरंगजेब भारत-सम्राट् बन गया था। उसने चम्पतराय को अनेक उपहारों से प्रसन्न कर दिया। उसे ओड़छे से बनारस तक का प्रान्त दे दिया। अब वह मनसबदार बन गया। चम्पतराय फिर विलास-सामग्री को पाकर रागरंग में आसक्त होने लगा। वह सारन्धा के मातृ-भूमि के प्रेम को, उसके सद्-विचारों को बिल्कुल भूल गया।

बेचारी सारन्धा फिर शोक-सागर में डूबने लगी। मेरा पति इस देश के राजा का दास बन कर रहे—इस बात का उसे बड़ा दुःख होने लगा। वह दिन-रात इस उधेड़-बुन में पड़ी रहती। इस चिन्ता में न उसे अन्न अच्छा लगता और न पानी ही। वह बार-बार पति से कहा करती—"मुझे वनों में

रहना स्वीकार है, वन के पत्ते खाकर, झरने का पानी पी कर कण्टकाकीर्ण शय्या पर सो कर अपने दिन पूरे कर लूंगी, पर इस दिल्ली में अन्य राजा की छत्रछाया में रहना स्वीकार नहीं। आपके जीवन पर मुझे रोना आता है कि आप अपने कर्तव्य को, अपने आदर्श को और अपनी मातृभूमि को भूल गए।



हमारी नायिका की तृतीय घटना हमारे दिलों को हिला देने वाली है। उस घोडे के कारण उस युगल का अन्त अब निकट है। यह अन्तिम घटना इस प्रकार है—

सेनापति वलीबहादुर स्वस्थ हो गया। रण में उसने जो वीरता दिखाई थी, औरंगज़ेब उससे बहुत प्रसन्न हो गया। वह सुन्दर और समझदार घोडा उसके हाथ से निकल गया, इस बात का उसे बहुत दुःख था। एक दिन चम्पतराय का लडका उस घोडे पर सवार हो कर वलीबहादुर के घर के पास वाली सडक पर जा रहा था। इस अवसर को देख कर वलीबहादुर के आदमियों ने लडके से घोडा छीन लिया। बेचारे लडके ने घर का रास्ता लिया, घर आकर माता को सारा हाल कह दिया।

यह बात सुनते ही रानी सारन्धा अंगार उगलने लगी। वह तुरन्त ही कुछ सैनिक ले वलीबहादुर के घर की ओर रवाना हुई। उसके पहुँचने से पहिले ही सेनापति उसी घोडे पर सवार हो कर दरबार में चले गए थे। सारन्धा भी उसी दम

दरबार में बेधड़क पहुँच गई । सारन्धा को युद्ध के लिये तैयार देख दरबार में हलचल मच गई । उस दरबार में ही सारन्धा ने सरोष वलीबहादुर से कहा—"सेनापति ! चम्बल युद्ध में तो आप अचेत पडे थे, आपके शरीर पर मक्खियां भिनभिना रही थीं, परन्तु शोक और लज्जा का स्थान है कि आपने एक छोटे से बालक पर अपनी वीरता दिखाई" ।

वलीबहादुर ने भी गुस्से में आकर कहा—"किसी ग़ैर की मजाल नहीं कि वह मेरी चीज़ को अपने काम में लावे" ।

सारन्धा—"वह चीज अब आपकी कैसी । अब तो वह मेरी चीज है । मुझे वह युद्ध में मिली थी । अब आपका उस पर कुछ अधिकार नहीं । आप जैसे सेनापति को यह नियम जानना चाहिये" ।

वलीबहादुर—"मुझे यह नियम मालूम है । पर उस घोडे के बदले अपना सारा अस्तबल देने के लिये तय्यार हूँ" ।

सारन्धा—"मुझे स्वीकार नहीं । मुझे अपना घोडा वापिस दीजिए" ।

वलीबहादुर—"वह घोडा नहीं मिल सकता । उसके तौल के जवाहिरात कहो तो मैं देने को तय्यार हूँ" ।

सारन्धा—"यदि मुझे अपना घोडा वापिस नहीं मिलता तो मैं इसका निर्णय तलवार से करूँगी" ।

सारन्धा के म्यान से तलवार निकलते ही बुन्देले भी अपनी अपनी तलवार निकालने लगे । सम्राट अपने सिंहासन पर बैठे यह कुतूहल देख रहे थे । अब वे सभल कर

बोले—"रानी साहिबा ! बात को इतना बढ़ाने की क्या ज़रूरत है। आपका घोड़ा मिल जायगा, पर बाज़ी कायम रखनी पड़ेगी"।

सारन्धा—"जो कुछ कहें मैं देने को तैयार हूँ"।

सम्राट्—"क्या अपनी जागीर भी"?

सारन्धा—"यह जागीर मेरे सामने तुच्छ चीज़ है"।

सम्राट्—"क्या एक घोड़े के लिए आप सब कुछ कुर्बान करने के लिये तैयार हैं"।

सारन्धा—"नहीं, नहीं। केवल मान के लिए। घोड़े, जागीर आदि तो कुछ चीज़ नहीं, मैं अपने मान के लिए अपने प्राण को भी न्योछावर करने के लिये तैयार हूँ"।

सारन्धा ने सब कुछ देकर अपना घोड़ा ले लिया। प्रसन्नता से वह अपने घर लौट आई। जब चम्पतराय ने यह हाल सुना तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि उनके हृदय में बिजली दौड़ गई हो। क्रोध से उनके नेत्र लाल हो गये। दिल के अन्दर ही वह अपनी स्त्री से यूँ कहने लगे— "सारन्धा! तू इतनी मूर्ख निकली कि एक घोड़े के बदले [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

जाने से इस दुर्ग की स्त्रियाँ और बच्चे तो बच जायगे। ये बेचारे गेहूँ मे घुन की तरह, क्यों पिसें । हम पर जो बनेगी, निपट लेंगे । जब उखली में सिर दिया तो मूसल का डर क्या" सारन्धा के कहने पर चम्पतराय तैयार हो गया । सारन्धा अपने पति को पालकी में सुला कर उस अँधेरी रात मे कुछ साथियो के साथ दुर्ग के गुप्त द्वार से बाहर निकल गई।

सारन्धा रोगी पति को साथ ले कर जगलों मे भटकती रही। तीन दिन तक उन्होंने अन्न के दर्शन भी न किये । उन्हें कहीं भी आश्रय न मिला । एक दिन वन मे सहसा शाही सेना का कोलाहल सुनाई दिया । सारन्धा वहीं रुक गई। बुन्देल वीरों ने अपनी तलवारें खींच लीं । अपने स्वामी के प्रति अपनी अतिम सेवा समझ वे दिल खोलकर लडते रहे।

चम्पतराय ने अपनी डोली से बाहर निकल कर धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाई, पर धनुष हाथ से गिर पडा। ज्वर के कारण शक्तिहीन चम्पतराय का कलेवर काँप रहा था। वह तत्क्षण धरती पर गिर पडा । पति की यह दशा देख सारन्धा की आखो से अश्रुओ की धारा बहने लगी। उसे शीतलादेवी का रोना भी याद आ गया । उसने अपने पति को गोद में बैठा लिया । पति को यम के द्वार पर पडा देख सारन्धा साधारण स्त्रियों की नाईं हतवीर्य हो गई।

कहीं मेरी आखों के सामने शत्रु मेरी स्त्री को स्पर्श न कर बैठे—इस विचार से चम्पतराय ने अपना अन्त करने के

लिए तलवार की ओर हाथ बढ़ाया पर उस समय हाथ में भी आगे बढ़ने की शक्ति न थी। इस क्रिया को देख सारन्धा ने तुरन्त तलवार उठा ली, उसकी नोक अपनी छाती में लगा ली।

चम्पतराय ने तत्क्षण सारन्धा को रोक कर कहा—'सारन्धा! मुझे शत्रुओं का कैदी मत बना। क्या तुम सहन कर सकोगी कि तुम्हारे मरने के बाद तुम्हारा पति दिल्ली मे लोहे के पिंजरे मे बन्द रहे। अब वह तुम्हारी आन किधर गई"!

सारन्धा—"भगवान् बन्दी होने से पहले मृत्यु दे दें"।

चम्पतराय—"तब मेरी यह अन्तिम याचना है कि यह तलवार पहले मेरी छाती मे घुसेड दो।"

इस बात को सुनकर सारन्धा की आँखो के आगे अन्धकार छा गया। वह असमञ्जस में पड़ गई। आर्य पत्नी के लिए यह अनोखी बात थी कि अपने हाथो से पति का गला काटे, पर आन के लिये वह अपने पति को भी न्योछावर करना जानती थी। ज्यों ही शाही सेनापति चम्पतराय को बन्दी बनाने के लिये आगे बढ़ा, उसी पल में सारन्धा की तलवार चमकी, चम्पतराय की छाती में प्रविष्ट हो गई।

यह अपूर्व वीरता देख मुगल सेनापति दाँतों तले उँगली दबा कर खड़े रहे। कहने लगे—"रानी साहिबा! माफ़ कीजिए। अब जो कुछ आप हुक्म करेंगे, हम बजा लाएँगे"।

सारन्धा—"इस बन मे काफ़ी लकडी पडी हुई है। कोई बुन्देला मिले तो हमारे मृत शरीरो की चिता आग लगवा देना। इस मे आप की मिहरबानी होगी"।